

जिनभद्रक्षमाश्रमण रचित
ध्यानशतक

कन्हैयालाल लोढा ♦ डॉ. सुषमा सिंघवी

ध्यानशतक



प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
शंकर फाउण्डेशन, मुम्बई

प्राकृत भारती पुष्प-202

जिनभद्रक्षमाश्रमण रचित

ध्यानशतक

सम्पादक एवं व्याख्या

कन्हैयालाल लोढा

एवं

डॉ. सुषमा सिंघवी

प्रकाशक :

देवेन्द्रराज मेहता

संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक

प्राकृत भारती अकादमी

13-ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर

जयपुर 302017

दूरभाष : 0141-2524827

एच.एस. रांका

शंकर फाउण्डेशन

शॉप नं. 5, बिल्डिंग नं. 7

मलाड को-ओपरेटिव हाउसिंग सोसायटी लिमिटेड

पोद्दार पार्क, पोद्दार रोड, मलाड (ईस्ट)

मुम्बई 400097

प्रथम संस्करण : 2007 ई.

मूल्य : पिचासी रुपये मात्र

© कन्हैयालाल लोढा एवं डॉ. सुषमा सिंघवी

पृष्ठ संयोजन : आयुष ग्राफिक्स

बापू नगर, जयपुर 302015

फोन : 0141-2708265, मोबाइल : 94140-76708

मुद्रक एवं आकल्पन :

सांखला प्रिंटर्स

विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

Dhyanshatak by Kanhiyalal Loddha & Dr. Sushma Singhvi

Rs. 85.00

अनुक्रमणिका

| विवरण | गा. सं. | पृ. सं. |
|--|---------|---------|
| प्रकाशकीय | | 9 |
| भूमिका | | 11 |
| प्रस्तावना | | 25 |
| ध्यानशतक | | 57 |
| मङ्गलाचरण | 1 | 57 |
| ध्यान का लक्षण | 2 | 58 |
| ध्यान का काल तथा स्वामी | 3 | 59 |
| ध्यान के भेद: उद्देश्य एवं फल | 4-5 | 60 |
| आर्त ध्यान के भेद: | | |
| (1) अनिष्ट संयोग | 6 | 61 |
| (2) आतुर चिन्ता | 7 | 62 |
| (3) इष्ट वियोग | 8 | 63 |
| (4) निदान चिन्तन | 9 | 63 |
| आर्त ध्यान का कारण और परिणाम | 10 | 64 |
| मुनि के आर्त ध्यान की सम्भावना एवं निराकरण | 11-12 | 65 |
| आर्त ध्यान संसार का कारण | 13 | 66 |
| आर्त ध्यानी की लेश्याएँ | 14 | 66 |
| आर्त ध्यानी के परिचायक लिङ्ग | 15 | 67 |
| आर्त ध्यानी के परिचायक लिङ्ग | 16-17 | 68 |
| गुणस्थान की दृष्टि से आर्त ध्यानी | 18 | 70 |
| रौद्र ध्यान के भेद: | | |
| (1) हिंसानुबन्धी | 19 | 70 |
| (2) मृषानुबन्धी | 20 | 72 |
| (3) स्तेयानुबन्धी | 21 | 73 |
| (4) विषयसंरक्षणानुबन्धी | 22 | 74 |

| विवरण | गा. सं. | पृ. सं. |
|---|---------|---------|
| स्थान की दृष्टि से रौद्र ध्यानी | 23 | 75 |
| रौद्र ध्यान का कारण और परिणाम | 24 | 75 |
| रौद्र ध्यानी की लेश्याएँ | 25 | 76 |
| रौद्र ध्यानी के दोष | 26 | 76 |
| रौद्र ध्यानी के अनुमापक लिङ्ग | 27 | 77 |
| धर्म ध्यान के प्ररूपक द्वारों का नामनिर्देश | 28-29 | 78 |
| धर्म ध्यानोपयोगी भावनाएँ : नामनिर्देश | 30 | 78 |
| (1) ज्ञान भावना | 31 | 78 |
| (2) दर्शन भावना | 32 | 79 |
| (3) चारित्र भावना | 33 | 80 |
| (4) वैराग्य भावना | 34 | 80 |
| धर्म ध्यान योग्य देश | 35-36 | 82 |
| धर्म ध्यान योग्य स्थान | 37 | 83 |
| धर्म ध्यान काल | 38 | 83 |
| धर्म ध्यान योग्य आसन | 39 | 84 |
| धर्म ध्यान हेतु योग-समाधान अनिवार्य, देश-काल-आसन नियत नहीं | 40-41 | 84 |
| धर्म ध्यान के आलम्बन | 42-43 | 85 |
| धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान निग्रह क्रम | 44 | 87 |
| धर्म ध्यान के ध्यातव्य : नामनिर्देश | 45 | 88 |
| (1) आज्ञा विचय | 46-50 | 88-90 |
| (2) अपाय विचय | 51 | 91 |
| (3) विपाक विचय | 52 | 92 |
| (4) संस्थान विचय | 53-62 | 93-96 |
| धर्म ध्यान का श्रेष्ठ ध्यातव्य : स्वसमय | 63 | 97 |
| धर्म ध्यान के ध्यातामुनि का स्वरूप | 64 | 98 |
| धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के ध्याता की विशेषता | 65-66 | 98-99 |
| धर्म ध्यानी की लेश्याएँ | 67-68 | 101 |

| विवरण | गा. सं. | पृ. सं. |
|---|---------|---------|
| धर्म ध्यानी के ज्ञापक लिङ्ग | 69 | 103 |
| शुक्ल ध्यान के आलम्बन | 70 | 103 |
| ध्यान की प्रक्रिया : | | |
| मन-वचन-काय निरोध : शैलेशी केवली | 71-77 | 104-106 |
| शुक्ल ध्यान के भेद: | | |
| (1) पृथक्त्व वितर्क विचार | 78-79 | 107 |
| (2) एकत्व वितर्क अविचार | 80-81 | 109 |
| (3) सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति | 82 | 111 |
| (4) व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति | 83 | 111 |
| शुक्ल ध्यान के भेदों में योग-निरोध की स्थिति | 84 | 112 |
| छद्मस्थ और केवली के ध्यान की विशेषता | 85-87 | 113 |
| शुक्ल ध्यान भावित ध्याता की चार अनुप्रेक्षाएँ | 88-89 | 114 |
| शुक्ल ध्यान और लेश्या | 90-93 | 117 |
| शुक्ल ध्यान के लिङ्ग: | | |
| 1. अव्यथा 2. असम्मोह 3. विवेक 4. व्युत्सर्ग | 94-95 | 119 |
| धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान के फल की तुलना | 96-97 | 120 |
| ध्यान से कर्मक्षय की प्रक्रिया | 98-103 | 120-122 |
| ध्यान का इहलौकिक फल | 104-105 | 123 |
| ध्यान का उपसंहार तथा ग्रन्थकर्त्ता नामनिर्देश | 106-107 | 123 |
| सन्दर्भ ग्रन्थ सूची | | 125 |

प्रकाशकीय

योग और ध्यान किसी-न-किसी रूप में भारत की लगभग सभी धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं के अंग रहे हैं। जैन परम्परा में भी आरम्भ से ही ध्यान का महत्त्व रहा है। जैन धर्म का सबसे प्राचीन ग्रंथ, श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार, भगवान् महावीर के प्रारंभिक उद्बोधनों का संग्रह आचारांग सूत्र है। आचारांग के कुछ अंश सीधे ध्यान से संबंधित हैं। आचारांग में पहली बार 'विपश्शती' शब्द का भी उपयोग हुआ है। महावीर के जीवन चरित्र—जो कल्पसूत्र व बाद के ग्रंथों में अंकित है—से भी प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर ध्यान करते रहे थे। ऐसा लगता है कि किसी काल में कर्मकाण्ड की औपचारिकताओं का महत्त्व बढ़ गया और ध्यान, योग आदि जैन धर्म में गौण हो गए।

प्राकृत भारती अकादमी जैन परम्परा में योग के प्रति व्याप्त उदासीनता दूर करने के प्रयास में संलग्न रही है। इसी योजना के अन्तर्गत हम पूर्व में हेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्र, श्रीमद् देवचन्द्र की अध्यात्म गीता, पद्मानन्द के वैराग्य-शतक आदि ग्रन्थों का प्रकाशन कर चुके हैं। अब इस योजना को एक नया वेग दिया जा रहा है जिससे शीघ्र ही जैन ध्यान तथा जैन, बौद्ध और वैदिक ध्यान सिद्धान्तों व प्रक्रियाओं के तुलनात्मक अध्ययन संबंधी विविध आयामों पर एक के बाद एक कई पुस्तकें पाठकों को उपलब्ध कराई जायेंगी।

ध्यानशतक संभवतः जैन परम्परा में ध्यान विषय की सबसे प्राचीन, स्वतंत्र व सुनियोजित कृति है। इतिहासकारों के मत में इसे छठी शताब्दी ईसवी की कृति माना जाता है। इसमें ध्यान की परिभाषा से आरंभ कर अनेक संबंधित विषयों की सविस्तर चर्चा की गई है। **ध्यानशतक** आचारांग के बाद ध्यान का सबसे प्रमुख ग्रन्थ है। **ध्वला** जो जैन धर्म का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और जो 9वीं सदी का है, उसमें ध्यानशतक की करीब आधी गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। इससे भी इस ग्रन्थ के महत्त्व का पता लगता है।

श्री कन्हैयालालजी सा. लोढ़ा एवं डॉ. सुषमा सिंघवी के अथक प्रयासों से इस पुस्तक का सम्पादन हो पाया है। अनुवाद के साथ श्री लोढ़ा सा. ने आवश्यकतानुसार टिप्पणियाँ भी की हैं। श्री लोढ़ा सा. जैन और बौद्ध धर्म के प्रमुख विद्वान् व चिन्तक हैं। ज्ञान और चिन्तन के साथ वे ध्यान की साधना के लिए भी विख्यात हैं। विशेष रूप में विपश्यना के प्रमुख विद्वान् और साधक हैं। उनके प्रति हम आभारी हैं। इसमें उनके मौलिक चिन्तन की भी छाप है। डॉ. सुषमा सिंघवी वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा के जयपुर क्षेत्रीय केन्द्र में निदेशक हैं। वे जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर में संस्कृत की सह-आचार्य रही हैं। संस्कृत, प्राकृत भाषा-साहित्य के साथ ही उन्होंने पातञ्जल योगदर्शन तथा योग की अन्य परम्पराओं का भी अध्ययन किया है। उनके विद्वत्तापूर्ण अनुवाद व प्रस्तावना के लिए हम उनके भी आभारी हैं। श्री सागरमलजी जैन के भी हम आभारी हैं कि उन्होंने पुस्तक की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी।

—देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी

भूमिका

साधना और ध्यान

जैन साधना वस्तुतः समत्वयोग की साधना है। समत्व की यह साधना ध्यान और कायोत्सर्ग के बिना सम्भव नहीं है। सामान्यतया व्यक्ति का ध्यान तो कहीं-न-कहीं केन्द्रित रहता है, किन्तु जो ध्यान 'पर'-केन्द्रित होता है अथवा जिसका विषय बाह्य जगत् से सम्बन्धित तथ्य होता है, चाहे फिर वे व्यक्ति हों या वस्तुएँ हों, वह ध्यान वस्तुतः ध्यान नहीं है, क्योंकि वह हमारी चेतना को उद्वेलित करता है। उसमें अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष का जन्म होता है। राग और द्वेष की वृत्तियाँ पुनः आवेगों को या कषायों को जन्म देती हैं। कषायों की उपस्थिति से चेतना का समत्व भंग हो जाता है और चित्त उद्वेलित बना रहता है। यही कारण है कि जैन आचार्यों ने आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान को ध्यान के रूप में वर्गीकृत करते हुए भी साधना की दृष्टि से उन्हें त्याज्य ही माना।

यद्यपि जैन आगम साहित्य में और परवर्ती ग्रन्थों में इन दोनों ध्यानों के स्वरूप, लक्षण, विषय, आलम्बन, स्वामी (कर्ता) आदि की विस्तृत चर्चा हुई है, किन्तु उसका कारण यह है कि इन अशुभ ध्यानों के स्वरूप समझकर ही इनका निराकरण किया जा सकता है। अतः जैन परम्परा के ग्रन्थों में ध्यान की जो चर्चा हुई है उसमें शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के ध्यानों की चर्चा मिलती है। आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ ध्यान हैं। उनमें प्राणी की स्वाभाविक रूप से प्रवृत्ति पाई जाती है, जबकि धर्म ध्यान शुभ ध्यान है, वह साधना का प्रथम चरण है। ध्यान साधना के क्षेत्र में अन्तिम ध्यान तो शुक्ल ध्यान ही माना गया है। यह शुभ और अशुभ से परे शुद्ध स्वरूप का ध्यान है।

आर्त और रौद्र ध्यान के विषय बाह्य होते हैं। जबकि धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के विषय परवस्तु न होकर स्व-स्वरूप ही होता है। यद्यपि धर्म ध्यान के परहित और करुणा से युक्त होने के कारण किसी दृष्टि से उसे पर से सम्बन्धित माना जा सकता है, किन्तु मूलतः वह आत्मनिष्ठ ही होता है। शुक्ल ध्यान शुद्ध

ध्यान है, उसका सम्बन्ध मात्र स्वरूपानुभूति से है। इसमें आत्मा सविकल्प दशा से निर्विकल्प दशा में स्थित होती है। यह परम समाधि रूप है और मुक्ति का अनन्तर कारण है। यही कारण है कि जैन आचार्यों ने ध्यान के सम्बन्ध में पर्याप्त चिन्तन किया है और उस पर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। ध्यान के सम्बन्ध में लिखे गये ग्रन्थों में 'ज्ञाणाज्झयण' अपर नाम ध्यानशतक प्राचीनतम है।

ग्रन्थ का नाम—ज्ञाणाज्झयण या ध्यानशतक

प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम को लेकर दो अभिमत प्राचीनकाल से देखने में आते हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं इसे ध्यानाध्ययन (ज्ञाणाज्झयण) कहा है। जबकि इसके प्रथम टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में इस ग्रन्थ को ध्यानशतक कहा है। वैसे ये दोनों नाम सार्थक ही प्रतीत होते हैं। प्रथम तो लेखक ने ग्रन्थ की प्रथम मंगल गाथा में 'ज्ञाणाज्झयण पवक्खामि' कहकर ग्रन्थ को जो ध्यानाध्ययन नाम दिया है वह इसलिये दिया है कि उन्होंने अपने विशेषावश्यक भाष्य में आवश्यक सूत्र पर भाष्य लिखने की प्रतिज्ञा की थी। नन्दी सूत्र में आवश्यक सूत्र के छः अध्ययनों को छः स्वतन्त्र ग्रन्थों के नाम से ही उल्लेखित किया गया है। उसमें पाँचवाँ आवश्यक कायोत्सर्ग रूप है। कायोत्सर्ग मूलतः ध्यान की ही एक अवस्था है, अतः उस अध्ययन पर भाष्य की दृष्टि से लिखी गई गाथाओं को ध्यानाध्ययन कहा गया है। विशेषावश्यक भाष्य यद्यपि आवश्यक सूत्र के छहों अध्ययनों पर लिखा जाना था, किन्तु प्रस्तुत विशेषावश्यक भाष्य सामायिक अध्ययन पर ही सीमित होकर रह गया, शेष अध्ययनों पर नहीं लिखा जा सका, अतः एक सम्भावना यह भी है कि आचार्य जिनभद्राणि की रुचि ध्यान में रही हो, इसलिये उन्होंने सामायिक के अध्ययन के बाद ध्यानाध्ययन पर भाष्य गाथाएँ लिखने का प्रयत्न किया हो और उन गाथाओं ने ही आगे चलकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप ले लिया हो। इसलिये लेखक के द्वारा सूचित ध्यानाध्ययन नाम प्रामाणिक लगता है।

आवश्यक निर्युक्ति की टीका में आचार्य हरिभद्र द्वारा इसे जो ध्यानशतक नाम दिया गया है वह इसकी गाथा संख्या 105 होने के कारण दिया है, अतः इस ग्रन्थ का ग्रन्थकार के द्वारा दिया गया नाम ध्यानाध्ययन है और टीकाकार हरिभद्रसूरि के द्वारा दिया गया नाम ध्यानशतक है। हरिभद्र के काल में ग्रन्थों का श्लोक या गाथाओं की संख्याओं के आधार पर नामकरण करने की प्रवृत्ति रही है। स्वयं हरिभद्रसूरि ने ही संख्याओं के आधार पर अपने ग्रन्थों का नामकरण किया है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रतिक्रमण अध्ययन की निर्युक्ति की टीका में 'चहुविहं ज्ञापं' सूत्र पर टीका लिखते हुए ये गाथाएँ उद्धृत की हैं। हम देखते हैं कि आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति में आचार्य हरिभद्र ने इन गाथाओं को उसी सूत्र की वृत्ति में उद्धृत किया है, इससे ऐसा अवश्य लगता है कि ये गाथाएँ भाष्य रूप हैं। यहाँ प्रारम्भ में ध्यानशतक नाम देकर बाद में ज्ञाणाज्ज्ञयणं की वृत्ति भी लिखी है, अतः ध्यानशतक नामकरण हरिभद्र का ही है, क्योंकि उन्होंने अपने अनेक ग्रन्थों का नामकरण गाथा या श्लोक संख्या के आधार पर किया है, यथा— अष्टक, षोडशक, विंशिका, द्वात्रिंशिका, पंचाशक आदि। इसी प्रकार अपने योग सम्बन्धी एक ग्रन्थ का नाम भी उन्होंने 'योगशतक' दिया है, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का 'ध्यानशतक' नाम ग्रन्थकार के द्वारा न दिया जाकर ग्रन्थ के टीकाकार हरिभद्र के द्वारा दिया गया है, ग्रन्थकार द्वारा दिया गया नाम तो 'ज्ञाणाज्ज्ञयणं' ही है, अतः दो नामों के होने पर भी ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

ग्रन्थ के कर्ता

जहाँ तक प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता का प्रश्न है, परम्परागत दृष्टि से उसके कर्ता 'जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण' माने जाते हैं। इतना ही नहीं, इसके सम्बन्ध में एक प्रमाण यह दिया जाता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के कुछ संस्करणों में इसकी 106वीं गाथा में ग्रन्थ की गाथा संख्या का निर्देश करते हुए उसके कर्ता के रूप में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

पंचतुरेण गाहा सएण ज्ञाणस्स जं समक्खायं ।
जिनभद्र खमासमणेहिं कम्मविसोही करणं जइणो ॥

प्रस्तुत गाथा में एक सामासिक पद 'कम्मविसोही करणं' है, किन्तु जहाँ तक मेरा ज्ञान है, प्रस्तुत गाथा में 'कम्मविसोहीकरणं' यह सामासिक पद जिनभद्रगणि का विशेषण तो नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ इस सामासिक पद में प्रथमा या द्वितीया विभक्ति है जबकि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण में तृतीया बहुवचन या पंचमी विभक्ति है, अतः 'कम्मविसोही करणं' यह या तो जिनभद्रगणि के किसी अन्य ग्रन्थ का नाम हो सकता है या फिर प्रस्तुत ज्ञाणाज्ज्ञयण को ही कर्मविशुद्धि कारक कहा गया हो। हमारी दृष्टि में यही विकल्प समुचित है क्योंकि ध्यान तप का ही एक प्रकार है और जैनदर्शन में तप को कर्मविशुद्धि या कर्मनिर्जरा का हेतु माना जाता है। पुनः ध्यान में शुक्ल ध्यान ही ऐसी अवस्था है कि जिसके चतुर्थ

चरण में सर्व कर्मों का क्षय हो जाता है, अतः कम्मविसोही करणं इस 'ज्ञाणाज्झयण' नामक ग्रन्थ का ही विशेषण है, अतः इस समस्तपद को उस रूप में लेना चाहिए—कम्मविसोही करणं ज्ञाणाज्झयणं। मेरी दृष्टि में इस गाथा का अन्वय भी इस रूप में करना होगा—

जिनभद्र खमासमणेहिं गाहा पंचुत्तरेण सएण जइणो कम्मविसोही करणं जं ज्ञाणाज्झयणं समक्खायं। इसी गाथा के आधार पर 'विनयभक्ति सुन्दर चरण ग्रन्थमाला' द्वारा प्रकाशित संस्करण में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को इसका कर्ता बतलाया गया है, किन्तु यहाँ एक समस्या यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के कुछ प्रकाशित संस्करणों में एवं हरिभद्र की आवश्यक वृत्ति में मात्र 105 गाथाएँ ही मिलती हैं। उसमें 106वीं गाथा नहीं है। इस आधार पर पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने ध्यानशतक की अपनी भूमिका में यह शंका प्रस्तुत की है कि ध्यानशतक के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण नहीं हैं। यदि हम पण्डितजी की इस बात को स्वीकार करके यह मान भी लें कि 106वीं गाथा मूल ग्रन्थकार की न होकर के बाद में किसी के द्वारा जोड़ी गई है तो भी इस आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण नहीं हैं, क्योंकि स्वयं पण्डित बालचन्द्र शास्त्री ने अपनी भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपनी कृतियों— यथा विशेषावश्यक भाष्य, जीतकल्प भाष्य आदि में भी लेखक के रूप में अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु इस कर्ता के नाम के अनुल्लेख से 'ध्यानाध्ययन' की अन्यकृतकता सिद्ध नहीं होती है। हम उनसे सहमत होकर यह मान सकते हैं कि यह अन्तिम गाथा बाद में किसी के द्वारा जोड़ी गई है, किन्तु उनकी इस बात से प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता जिनभद्रगणि नहीं हैं, यह फलित नहीं होता है, क्योंकि इस सम्बन्ध में अन्य अनेक साधक प्रमाण भी उपस्थित हैं।

यह भी सत्य है कि इस 106वीं गाथा में यह कहा गया है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के द्वारा यह ग्रन्थ रचा गया। यह कथन स्वयं लेखक के द्वारा तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि लेखक स्वयं इस गाथा के रचयिता होते तो वे यह लिखते, 'मुझ जिनभद्रगणि द्वारा रचा गया', अतः इस गाथा का अन्यकृतक और प्रक्षिप्त होना तो सिद्ध है, किन्तु पण्डित बालचन्द्र शास्त्री का यह कहना कि यह गाथा असम्बद्ध-सी है, उचित नहीं, क्योंकि प्रस्तुत गाथा में

ग्रन्थ की गाथा संख्या का उल्लेख करते हुए ही ग्रन्थकार का उल्लेख हुआ है, अतः यह गाथा असम्बद्ध नहीं कही जा सकती। अब प्रश्न यह उठता है कि यह गाथा प्रस्तुत कृति में कब जोड़ी गई? वस्तुतः यह गाथा प्रस्तुत कृति में हरिभद्र की टीका के पश्चात् ही जोड़ी गई होगी और यही कारण हो सकता है कि हरिभद्र ने इस गाथा पर टीका न लिखी हो। दूसरे, यदि हरिभद्र स्वयं इस गाथा को जोड़ते तो मूल गाथाओं के बाद इस गाथा को अवश्य देते, किन्तु उनकी टीका में इस गाथा की अनुपलब्धि यही सिद्ध करती है कि यह गाथा आवश्यक की हरिभद्रीय टीका के बाद ही जुड़ी होगी, किन्तु हरिभद्रीय टीका के पश्चात् मलधारी हेमचन्द्र द्वारा जो टिप्पण लिखे गये उनमें भी इसके कर्ता के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं किया गया। इससे भी यही सिद्ध होता है कि यह गाथा मलधारी हेमचन्द्र के टिप्पण के बाद ही प्रक्षिप्त हुई होगी, अर्थात् ईसा की बारहवीं शती के पश्चात् ही प्रक्षिप्त हुई होगी।

यह सत्य है कि पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने गणधरवाद की प्रस्तावना में भी ध्यानशतक/ज्ञाणाज्ज्ञयण के जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित होने में सन्देह व्यक्त किया है। उनके सन्देह का आधार भी हरिभद्रीय टीका और मलधारी हेमचन्द्र के टिप्पण में कर्ता के नाम का अनुल्लेख ही है। पण्डित बालचन्द्रजी पण्डित दलसुखभाई के इस सन्देह से तो सहमत होते हैं, परन्तु दलसुखभाई के इस निर्णय को स्वीकार क्यों नहीं करते हैं कि यह आवश्यक निर्युक्तिकार की कृति है। पण्डित दलसुखभाई गणधरवाद की भूमिका में स्पष्टतः यह लिखते हैं कि, 'हरिभद्रसूरि ने इसे जो शास्त्रान्तर कहा है, इससे यह स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यह तो उससे फलित नहीं होता है। उसके प्रारम्भ में योगीश्वर और जिन को नमस्कार किया गया है, इस कारण से हरिभद्रसूरि इसे आवश्यकनिर्युक्तिकार की कृति नहीं मानते हों, यह तो हो नहीं सकता। कारण यह है कि किसी नवीन प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए निर्युक्तियों में कितनी ही बार तीर्थकरों को नमस्कार किया गया है, अतः उसे निर्युक्तिकार भद्रबाहु (द्वितीय) की ही कृति मानना चाहिए।'

यद्यपि इस ग्रन्थ की शैली एवं भाषा की निर्युक्ति की शैली एवं भाषा से निकटता है, अतः उसे निर्युक्तिकार की कृति मानने में विशेष बाधा नहीं है। पण्डित बालचन्द्रजी यह 'ज्ञाणाज्ज्ञयण' जिनभद्रगणि की कृति नहीं है इस हेतु पण्डित दलसुखभाई के तर्क का अपने पक्ष में उपयोग करते हैं, किन्तु उनके इस निर्णय को कि यह ग्रन्थ निर्युक्तिकार की कृति है, क्यों स्वीकार नहीं करते हैं?

वे इसका तार्किक खण्डन भी नहीं करते हैं, सम्भवतः उन्हें इसमें यही कठिनाई प्रतीत होती है कि, चाहे इसे निर्युक्तिकार की कृति माने या भाष्यकार की कृति माने, दोनों ही स्थितियों में यह श्वेताम्बर परम्परा की कृति सिद्ध होगी। जबकि वे इसे स्पष्टतः निर्युक्तिकार और भाष्यकार की कृति नहीं मानते हैं, किन्तु यह भी सिद्ध नहीं कर पाते हैं कि यह किसी अन्य आचार्य की कृति है और वह कौन हो सकता है? केवल इस आधार पर कि आचार्य हरिभद्र ने अपनी टीका में और आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने अपने टिप्पण में इसे जिनभद्रगणि की कृति नहीं बताया है— इसे जिनभद्र की कृति मानने से इनकार कर देना समुचित नहीं है, क्योंकि दोनों ने उनके सामने जो मूलपाठ था उसी पर टीका या टिप्पण लिखे। जब मूल में नामोल्लेख वाली गाथा उनके समक्ष थी ही नहीं तो वे किस आधार पर कर्ता के नाम का उल्लेख करते और जब जिनभद्रगणि की अपनी किसी भी कृति में अपना नाम देने की प्रवृत्ति ही नहीं रही तो फिर इस कृति में अपना नाम कैसे देते?

पण्डित बालचन्द्रजी ने इस ग्रन्थ को जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृति मानने से जो इनकार किया है, उसका सम्भवतः मुख्य कारण यही है कि वे इसे किसी श्वेताम्बर आचार्य की कृति मानना नहीं चाहते हैं, किन्तु उनका यह मन्तव्य इसलिये सिद्ध नहीं हो सकता कि कृति मूलतः अर्धमागधी भाषा में ही लिखी गई है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती जो भी दिग्म्बर आचार्य हुए हैं उन सब ने शौरसेनी प्राकृत में ही अपने ग्रन्थ लिखे हैं, जबकि यह ग्रन्थ पूर्णतः अर्धमागधी में ही पाया जाता है। इस पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव भी प्रायः अधिक नहीं देखा जाता है। वैसे अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में जो भी लेखन हुआ है वह प्रमुखतः श्वेताम्बर आचार्यों के द्वारा ही हुआ है, अतः इतना सुनिश्चित है कि यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में ही निर्मित हुआ है। पुनः आचार्य हरिभद्र ने इस पर जो टीका लिखी है, वह भी मूलतः श्वेताम्बर परम्परा की है, अतः ग्रन्थकर्ता के रूप में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं आती है।

प्राचीन जैन आचार्यों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे अपनी किसी रचना में अपने नाम का उल्लेख नहीं करते थे, यही कारण है कि विशेषावश्यक भाष्य, जीतकल्प भाष्य, विशेषणवती आदि ग्रन्थों में जिनभद्रगणि ने भी कहीं भी, अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु इस आधार पर विशेषावश्यक भाष्य, जीतकल्प भाष्य, विशेषणवती आदि को किसी अन्य की कृति नहीं माना

जा सकता है। इससे तो यह ही सिद्ध होता है कि ध्यानशतक के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ही हैं और कर्ता के नाम के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भ्रान्ति न हो, इसलिये परवर्तीकाल में किसी ने 106वीं गाथा जोड़कर कर्ता का नाम निर्देश कर दिया है। मात्र यही नहीं, दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द मूलाचार के कर्ता आदि ने भी अपनी कृतियों में कहीं अपने नाम का निर्देश नहीं किया है, ऐसी स्थिति में क्या समयसार, मूलाचार आदि के कर्तृत्व पर भी सन्देह किया जायेगा?

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ विक्रम की आठवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्र के समक्ष उपस्थित था। जिनभद्रगणि का काल लगभग छठी शताब्दी माना जा सकता है। जिनभद्र के पश्चात् और हरिभद्र के पूर्व जो प्रमुख श्वेताम्बर आचार्य हुए हैं उनमें तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार सिद्धसेनगणि क्षमाश्रमण और चूर्णिकार जिनदासगणि को छोड़कर ऐसे कोई अन्य समर्थ आचार्यों के नाम हमारे समक्ष नहीं हैं, जिन्हें इस ग्रन्थ का कर्ता बताया जा सके। ये दोनों भी इसके कर्ता नहीं हैं, यह भी सुस्पष्ट है, अतः यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि ध्यानशतक के रचनाकार श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ही हैं।

मेरी दृष्टि में इसे निर्युक्तिकार की रचना मानने में भी एक कठिनाई यह है कि आवश्यकनिर्युक्ति में प्रतिक्रमण निर्युक्ति की और कायोत्सर्ग निर्युक्ति की जो गाथाएँ हैं उनसे ध्यानाध्ययन की एक भी गाथा नहीं मिलती है, वस्तुतः यह ग्रन्थ निर्युक्ति के बाद का और जिनदासगणि महत्तर की चूर्णियों के पूर्व भाष्यकाल की रचना है, अतः इसके कर्ता विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि ही होने चाहिए। जहाँ तक ज्ञाणाज्झयण के निर्युक्तिकार भद्रबाहु की रचना मानने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में हमारे पास में कोई भी ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। केवल यह मान करके कि आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक निर्युक्ति की व्याख्या में इसे समाहित किया है, मात्र इसी आधार पर इसे निर्युक्तिकार की रचना नहीं माना जा सकता है, क्योंकि आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में अन्य-अन्य ग्रन्थों के भी सन्दर्भ दिये हैं और जिनके कर्ता निश्चित ही निर्युक्तिकार नहीं हैं। अतः आचार्य हरिभद्र की टीका में उद्धृत होने मात्र से इसे निर्युक्तिकार की रचना मानना सम्भव नहीं है। निर्युक्तियों के बाद में भाष्यों और चूर्णिका का काल आता है और प्रस्तुत कृति हरिभद्र के पूर्व होने से उसे भाष्यकार की रचना मानना ही उपयुक्त है, क्योंकि चूर्णियाँ तो प्राकृत गद्य में लिखित हैं, अतः उनकी शैली भिन्न

है। शैली, भाषा आदि की अपेक्षा से इसे विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि की कृति मान लेना ही सम्भव है।

रचनाकाल

जहाँ तक प्रस्तुत कृति के रचनाकाल का प्रश्न है, यदि हम इसे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की रचना मानते हैं तो उनका जो काल है वही इस कृति का रचनाकाल होगा। 'विचार श्रेणी' ग्रन्थ के अनुसार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्वर्गवास वीर सम्वत् 1120 में हुआ, तदनुसार उनका स्वर्गवास विक्रम सम्वत् 650 या ईसवी सन् 593 माना जा सकता है। धर्मसागरीपट्टावली के अनुसार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्वर्गवास-काल विक्रम सम्वत् 705 के लगभग माना जाता है, तदनुसार वे ईसवी सन् 649 में स्वर्गस्थ हुए। चूँकि विशेषावश्यक भाष्य और उसकी स्वोपज्ञटीका उनकी अन्तिम कृति के रूप में माने जाते हैं, अतः इतना सुनिश्चित है कि 'ज्ञाणाञ्जयण' की रचना ईसवी सन् की 7वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही कभी हुई है। यह निश्चित है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ईसवी सन् 601 अर्थात् शक सम्वत् 531 के पूर्व हुए हैं, क्योंकि शक सम्वत् 531 में लिखी विशेषावश्यक भाष्य ताड़पत्रीय प्रति के आधार पर प्रतिलिपि की गई अन्य ताड़पत्रीय प्रति आज भी जैसलमेर भण्डार में उपलब्ध है। इस प्रकार विशेषावश्यक भाष्य की रचना शक सम्वत् 531 अर्थात् ईसवी सन् 609 से पूर्व ही हुई है, अतः विशेषावश्यक भाष्य का रचनाकाल सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद नहीं ले जाया जा सकता है, अतः ध्यानशतक की रचना ईसवी सन् की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और सातवीं शती के प्रथम दशक के पूर्व ही माननी होगी।

पण्डित दलसुखभाई ने इसे निर्युक्तिकार भद्रबाहु की रचना होने की कल्पना की है। यद्यपि हम पूर्व में ही इस कल्पना को निरस्त कर चुके हैं फिर भी यदि हम निर्युक्तियों का रचनाकाल ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी मानते हैं तो प्रस्तुत कृति के रचनाकाल की पूर्वसीमा ईसा की 2-3 शताब्दी और उत्तरसीमा ईसवी सन् की छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

पण्डित बालचन्द्रजी ने अपनी प्रस्तावना में ध्यानशतक के आधार रूप स्थानांग आदि सभी अर्धमागधी आगमों को वल्लभी वाचना अर्थात् ईसा की 5वीं शताब्दी की रचना माना है, किन्तु यह उनकी भ्रान्ति ही है। वल्लभी वाचना वस्तुतः अर्धमागधी आगमों का रचनाकाल न होकर उनकी अन्तिम वाचना का

अर्थात् उनके सम्पादन का काल है। उनकी रचना तो उसके पूर्व ही हो चुकी थी। स्थानांगसूत्र को प्रस्तुत ध्यानशतक का आधारग्रन्थ माना जा सकता है। उसकी रचना उसके काफी पूर्व ही हो चुकी थी, चूँकि उल्लेख हैं वे भी उसे ईसवी सन् की प्रथम-द्वितीय शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं करते हैं। स्थानांगसूत्र में आचारदशा आदि दस दशा ग्रन्थों के नाम और उनकी विषयवस्तु का जो उल्लेख है वह समवायांग और नन्दीसूत्र में वर्णित उनकी विषयवस्तु से काफी प्राचीन है। वे नागार्जुनीय (तीसरी शती) और देवर्द्धिगणि की वाचना के पूर्व के हैं और ध्यानाध्ययन में ध्यान के उसी प्राचीन रूप का अनुसरण देखा जाता है। यदि ज्ञाणाज्झयण, अपर नाम ध्यानशतक का आधार स्थानांगसूत्र रहा हो, तो भी वह ईसवी सन् की दूसरी शती से पूर्ववर्ती तथा पाँचवी-छठी शती से परवर्ती नहीं है, क्योंकि विक्रम की आठवीं शताब्दी और तदनुसार ईसवी सन् सातवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए हरिभद्र स्वयं इसे न केवल उद्धृत कर रहे हैं, अपितु आवश्यकवृत्ति के अन्तर्गत उस पर टीका भी लिख रहे हैं।

अतः ज्ञाणाज्झयण, अपर नाम ध्यानशतक का रचनाकाल ईसा की दूसरी शती के पश्चात् और ईसवी सन् की सातवीं शती के प्रथम दशक के पूर्व हो सकता है। फिर भी मेरी दृष्टि में इसे जिनभद्र क्षमाश्रमण की रचना होने के कारण ईसवी सन् की छठी शती के अन्तिम चरण की रचना मानना अधिक उपयुक्त है।

ग्रन्थ की विषयवस्तु और उसका वैशिष्ट्य

प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वप्रथम मंगल गाथा में ग्रन्थ रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करने के पश्चात् दूसरी गाथा में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अध्यवसायों की एकाग्रता 'ध्यान' है और उनकी चंचलता 'चित्त' है। यह चित्त भी तीन प्रकार का है— 1. भावना रूप, 2. अनुप्रेक्षा रूप और 3. चिन्ता। भावना की अपेक्षा अनुप्रेक्षा में और अनुप्रेक्षा की अपेक्षा चिन्ता में चित्त की चंचलता वृद्धिगत होती जाती है। जबकि ध्यान में चित्त एकाग्र रहता है। सामान्य व्यक्तियों के लिए अन्तर्मुहूर्त तक चित्तवृत्ति का एकाग्र होना ध्यान है, किन्तु तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन जब चौदहवें गुणस्थान में योग निरोध करते हैं अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध करते हैं तब उसे ध्यान कहते हैं। इसके पश्चात् ध्यान के चार प्रकारों अर्थात् 1. आर्त ध्यान, 2. रौद्र ध्यान, 3. धर्म ध्यान और 4. शुक्ल ध्यान का उल्लेख करते हुए प्रथम दो को भवभ्रमण का कारण और अन्तिम दो को मुक्ति का साधन बताया गया है। चार ध्यानों को

चार गतियों से जोड़ते हुए जैन परम्परा में यह कहा गया है कि आर्त ध्यान तिर्यच गति का, रौद्र ध्यान, नरक गति का, धर्म ध्यान मनुष्य या देव गति का तथा शुक्ल ध्यान मोक्ष गति का हेतु है। इसके पश्चात् प्रस्तुत ग्रन्थ में आर्त ध्यान के चार प्रकारों— 1. अनिष्ट या अमनोज्ञ का संयोग, 2. रोगादि की वेदना, 3. इष्ट का वियोग और 4. निदान अर्थात् भविष्य सम्बन्धी आकांक्षा का उल्लेख हुआ है। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि रोगादि की वेदना में और रोगमुक्ति के प्रयासों में भी वास्तविक मुनि को आर्त ध्यान नहीं होता है, क्योंकि आलम्बन प्रशस्त होता है। इसी प्रकार मोक्ष की इच्छा भी निदान रूप नहीं है, क्योंकि उसमें राग-द्वेष-मोह नहीं हैं। इसके पश्चात् आर्त ध्यान के लक्षण—आक्रन्द, दैन्य आदि की चर्चा है। अन्त में आर्त ध्यान में कौन-सी लेश्या होती है और आर्त ध्यान का स्वामी कौन है अर्थात् आर्त ध्यान किन गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है इसकी चर्चा है। इस प्रकार गाथा 6 से लेकर 18 तक बारह गाथाओं में आर्त ध्यान सम्बन्धी विवेचन है। ज्ञातव्य है कि जैन धर्म में आर्त ध्यान को ध्यान का एक रूप स्वीकार करके भी त्याज्य माना है।

आगे गाथा क्रमांक 19 से 22 तक चार गाथाओं में रौद्र ध्यान के चार प्रकारों—1. हिंसानुबन्धी, 2. मृषानुबन्धी, 3. स्तेयानुबन्धी और 4. संरक्षणानुबन्धी के स्वरूपों का विवेचन हुआ है। इसके पश्चात् गाथा क्रमांक 23-24 में यह बताया गया है कि रौद्र ध्यान स्वयं करना, अन्य से करवाना अथवा करते हुए का अनुमोदन करना—ये तीनों ही राग, द्वेष और मोहयुक्त होने से नरक गति के हेतु है। इसके पश्चात् 25वीं गाथा में आर्त ध्यान में कौन-सी लेश्या होती है इसकी चर्चा की गई है। तदनन्तर रौद्र ध्यान के लक्षणों की चर्चा की गई है। रौद्र ध्यान को ध्यान के अन्तर्गत वर्गीकृत करके भी उसे हेय और नरक गति का हेतु बताया गया है। आर्त और रौद्र ध्यान हेय या त्याज्य होने से प्रस्तुत कृति में इन दोनों का विवेचन अत्यन्त संक्षेप में मात्र 21 गाथाओं (7-27 तक) में हुआ है। जबकि धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का विवेचन लगभग 58 गाथाओं में किया गया है।

धर्म ध्यान की चर्चा के प्रसंग में प्रस्तुत ग्रन्थ में धर्म ध्यान का विवेचन निम्न बारह द्वारों अर्थात् विभागों में किया गया है— 1. भावनाद्वार, 2. देश अर्थात् ध्यान स्थल द्वार, 3. काल अर्थात् ध्यान का समय, 4. ध्यान के आसन, 5. धर्म ध्यान के आलम्बन (स्वाध्याय), 6. ध्यान का क्रम, 7. ध्यान का विषय, 8. ध्याता की योग्यता जैसे अप्रमत्तादि, 9. अनुप्रेक्षा अर्थात् ध्यान में चिन्तनीय विषय,

10. धर्म ध्यान की लेश्या (मनोवृत्ति), 11. धर्म ध्यान के लक्षण एवं 12. धर्म ध्यान का फल या परिणाम। इसी क्रम में धर्म ध्यान के प्रकारों का भी उल्लेख हुआ है— 1. आज्ञाविचय अर्थात् वीतराग परमात्मा ने क्या-क्या करने या नहीं करने का आदेश दिया है, उसका चिन्तन करना, 2. अपायविचय अर्थात् राग-द्वेष-मोह-कषाय आदि की दोषरूपता का चिन्तन करना, 3. विपाकविचय— कर्मों के उद्देश्य अर्थात् विपाक (फल) का विचार करना, 4. संस्थानविचय अर्थात् लोक के स्वरूप पर विचार करना। साथ ही यह भी बताया गया है कि अप्रमत्त संयत अर्थात् सातवें गुणस्थान से लेकर 11वें उपशान्तमोह या 12वें क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती मुनि धर्म ध्यान के अधिकारी या ध्याता होते हैं।

इसी प्रकार धर्म ध्यान के ध्याता में तेजो, पद्म और शुक्ल—ये तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत कृति ध्यानशतक या ध्यानाध्ययन में गाथा क्रमांक 28 से 68 तक 41 गाथाओं में धर्म ध्यान का विवेचन हुआ है। इसके आगे 37 गाथाओं में शुक्ल ध्यान का विवेचन है।

प्रस्तुत कृति में धर्म ध्यान के समान शुक्ल ध्यान के भी बारह द्वार बताये गये हैं, किन्तु इनमें भावना, देश (स्थान), काल (ध्यान के योग समय) तथा आसन (ध्यान के आसन)—ये चार धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में समान होने से शुक्ल ध्यान की चर्चा के प्रसंग में इनका पुनः उल्लेख नहीं किया है, अतः सर्वप्रथम शुक्ल ध्यान के क्षान्ति (क्षमा), मार्दव (विनम्रता), आर्जव (सरलता) और मुक्ति (निर्लोभता)—ये चार आलम्बन बताये गये हैं। वस्तुतः शुक्ल ध्यान का मुख्य लक्ष्य कषायों पर विजय प्राप्त करना है, अतः क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों के प्रतिरोधी चार धर्मों को शुक्ल ध्यान का आलम्बन कहा गया है।

ध्यान क्रम की चर्चा करते हुए इसमें यह बताया गया है कि विषयसंकोच अर्थात् संसार के विषयों के प्रति अनात्म भाव जाग्रत करते हुए अर्थात् ये मेरे नहीं हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ, आत्मा के शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा भाव पर चित्त को केन्द्रित करना—यह विषयसंकोच का क्रम है, छद्मस्थ जीव इसी क्रम से शुक्ल ध्यान करता है, किन्तु वीतराग परमात्मा का शुक्ल ध्यान योग निरोध रूप शैलेषी अवस्था रूप होता है, यहाँ 'मन', 'अमन' हो जाता है। इसके तीन दृष्टान्त दिये गये हैं, जैसे मान्त्रिक शरीर में व्याप्त जहर को डंक स्थान पर लाकर निर्मूल कर देता है, वैसे ही शुक्ल ध्यान अपने विषयों में व्याप्त मन को क्रमशः उसके

विषय रूप विषय का संकोच करते हुए आत्म तत्त्व पर केन्द्रित कर अमन या निर्विषय बना देता है। जिस प्रकार ईंधन को जलाते हुए ईंधन के अभाव में अग्नि स्वयं नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मन अपने विषयों का त्याग करते हुए अन्त में अमन बन जाता है। जैसे कच्चे घड़े को अग्नि में पकाने पर उसकी आर्द्रता समाप्त हो जाती है वैसे ही ध्यानाग्नि में तपाने से मन की आर्द्रता अर्थात् विषयानुगामिता समाप्त हो जाती है। फिर मनयोग, वचनयोग और काययोग का निरोध किस प्रकार और किस क्रम से होकर शैलेषी अवस्था प्राप्त होती है, इसकी चर्चा है। इसके पश्चात् शुक्ल ध्यान के चार चरणों— 1. पृथक्त्व वितर्क विचार अर्थात् आत्म-अनात्म का भेद विज्ञान, 2. एकत्व वितर्क अविचार अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिरता, 3. सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति अर्थात् योग निरोध में प्रवर्तनशील आत्म स्थिति और 4. व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती अर्थात् त्रियोग निरोध की अन्तिम स्थिति या निर्विकल्प आत्म समाधि की अवस्था का विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं अर्थात् आस्रव हेतु, संसार की अशुभता, भवभ्रमण की अनन्त परम्परा और वस्तु की परिणमनशीलता का विचार किया गया है, यद्यपि ये अनुप्रेक्षाएँ शुक्ल ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था में ही सम्भव हैं। फिर शुक्ल ध्यान में लेश्या की स्थिति की चर्चा करते हुए कहा गया है कि शुक्ल ध्यान के प्रथम दो चरणों में शुक्ल लेश्या, तीसरे चरण में परम शुक्ल लेश्या और चौथे चरण में लेश्या का अभाव होता है, लेश्या मनोवृत्ति रूप है, शुक्ल ध्यान के चतुर्थ चरण में मन 'अमन' हो जाता है, अतः वहाँ लेश्या नहीं होती है। तदनन्तर अवध (पूर्ण अहिंसा), असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग—शुक्ल ध्यान के इन चार लक्षणों की चर्चा की गई है। शुक्ल ध्यान में आत्मा स्वरूपघात (स्वहिंसा) और पर-घात दोनों से रहित होता है, उसकी मोह दशा का निवारण हो जाने से उसमें असम्मोह और विवेक गुण प्रकट हो जाते हैं। फिर शुक्ल ध्यान का जो महत्त्वपूर्ण लक्षण व्युत्सर्ग है वह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यही एक ऐसा लक्षण है जो शुक्ल ध्यान को अपने सम्यक् अर्थ में कायोत्सर्ग बना देता है, वीतराग ध्यान बना देता है।

सामान्यतया जनसाधारण ध्यान और कायोत्सर्ग को एक मान लेता है, किन्तु दोनों में अन्तर है। तप के बारह भेदों में ध्यान और कायोत्सर्ग को अलग-अलग माना है। ध्यान चित्त की एकाग्रता है, जबकि कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग निर्ममत्वता है। दूसरे शब्दों में ध्यान तो किसी एक विषय पर मन का

एकाग्र होना है, जबकि व्युत्सर्ग में मन 'अमन' हो जाता है। यही कारण है कि व्युत्सर्ग ध्यान की उच्चतम या अन्तिम अवस्था है। व्युत्सर्ग में निर्ममत्व बुद्धि है। वह योग-निरोध है। वह वीतरागता की साधना से भी एक चरण आगे बढ़ा हुआ है। यही कारण है कि व्युत्सर्ग शुक्ल ध्यान का लक्षण कहा गया है।

एतदर्थ यह बताया गया है कि छद्मस्थ के सम्बन्ध में मन की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है जबकि वीतराग के सम्बन्ध में काय की निश्चलता को अर्थात् योग निरोध की शैलेषी अवस्था को ध्यान कहा जाता है। शुक्ल ध्यान के फल या परिणाम की चर्चा करते हुए कहा गया है कि शुक्ल ध्यान के प्रथम दो चरणों का फल शुभाश्रवजन्म अनुत्तर स्वर्ग का सुख है जबकि अन्य चरणों का फल कर्मक्षय और मोक्ष की प्राप्ति है।

कहा गया है कि तप से कर्म निर्जरा होती है, कर्म निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ध्यान तप का प्रधान अंग है, अतः वह मोक्ष का हेतु है। अन्त में अनेक दृष्टान्तों द्वारा ध्यान मोक्ष का हेतु है, इस बात को सिद्ध किया गया है और कहा गया है कि ध्यान सभी गुणों का आधार स्थल है, दृष्ट और अदृष्ट सभी सुखों का साधक है, अत्यन्त प्रशस्त है, वह सदैव ही श्रद्धेय, ज्ञातव्य एवं ध्यातव्य है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ ध्यान की परिभाषा, ध्यान का स्वरूप, ध्यान के प्रकार, उनके प्रभेद स्वरूप, लक्षण, आलम्बन, ध्येय विषय, लेश्या, विभिन्न ध्यानों के स्वामी या अधिकारी, ध्यान के योग्य स्थान, ध्यान के योग्य समय, ध्यान के आसन, मुद्रा आदि पर प्रकाश डालता है। इसके विवेचन विषयों में ध्यान के भेद, प्रभेद, उनके लक्षण, आलम्बन आदि की चर्चा तो स्थानांग सूत्र और तत्त्वार्थ सूत्र पर आधारित हैं, किन्तु ध्यान के स्थान, काल, आसन आदि की चर्चा इसकी अपनी मौलिकता है, जिसका परवर्ती ग्रन्थों, जैसे ज्ञानार्णव, योगशास्त्र आदि में भी अनुसरण किया गया है।

यद्यपि पूर्व में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के गुजराती और हिन्दी अनुवाद सहित तीन संस्करण प्रकाशित हुए। इनमें पूजनीय भानुविजयजी (पूजनीय भुवनभानुसूरिजी) का विवेचन सहित दिव्य दर्शन कार्यालय, कालपुर, अहमदाबाद से प्रकाशित संस्करण एवं पण्डित खूबचन्दजी द्वारा व्याख्यायित एवं वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित संस्करण महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु अब वे प्रायः अप्राप्य हैं, अतः प्राकृत भारती, जयपुर श्री कन्हैयालाल लोढ़ा एवं

डॉ. सुषमा सिंघवी द्वारा ध्यानशतक का एक नवीन संस्करण प्रकाशित करने जा रही है, यह प्रसन्नता का विषय है। लोढ़ाजी ध्यान साधक हैं और डॉ. सुषमा सिंघवी संस्कृत, प्राकृत एवं जैन विद्या की समर्थ अध्येता एवं व्याख्याता हैं। उनके द्वारा अनूदित एवं व्याख्यायित यह कृति लोगों के ध्यान की ओर बढ़ते हुए रुझान को संपोषित एवं पल्लवित करे, यही शुभकामना।

बुद्ध पूर्णिमा
वैशाख शुक्ल पूर्णिमा
विक्रम सम्वत् 2063

सागरमल जैन
संस्थापक निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

प्रस्तावना

ध्यानाध्ययन जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (7वीं शती ईसवी) द्वारा आगम-शैली में लिखा जैन योग विषयक प्राचीन ग्रन्थ है, जो ध्यानशतक नाम से जाना जाता है। ग्रन्थ की प्रथम मूल गाथा में ग्रन्थकार ने 'ध्यानाध्ययन' के कथन की प्रतिज्ञा की है— 'वीरं सुक्क.....'। ध्यानशतक में 106 गाथाएँ उपलब्ध हैं। ध्यानशतक की अन्तिम गाथा में ग्रन्थ का रचयिता जिनभद्र क्षमाश्रमण को बताया गया है।

भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना से प्रकाशित डिस्क्रिप्टिव केटलॉग ऑफ द गवर्नमेण्ट कलेक्शन्स ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स वॉल्यूम XVII, भाग III के पृष्ठ 415-416 पर ग्रन्थ संख्या 1055 तथा 1056 में ध्यानशतक की गाथा संख्या 106 बताई है जिसकी अन्तिम गाथा में ग्रन्थकर्ता का नामोल्लेख है—

पंचुत्तरेण गाहासएण ज्ञाणस्स यं समक्खायं ।

जिणभद्वखमासमणेहिं कंमविसोहीकरं जइणो ॥ 106 ॥²

अर्थात् एक सौ पाँच गाथाओं में ध्यान का जो कथन किया गया है वह जिनभद्र क्षमाश्रमण के द्वारा मुनि (यति) के कर्मों की विशुद्धि के लिए है।

उपर्युक्त प्रमाण के आधार पर ग्रन्थकार जिनभद्र क्षमाश्रमण का उल्लेख करने वाली गाथा का ध्यानशतक की ही गाथा होना प्रमाणित होता है। अभिधान राजेन्द्र कोश में भी इस अन्तिम गाथा को संकलित किया है।³

यह ध्यानाध्ययन आवश्यकनिर्युक्ति की हरिभद्र (8वीं शती ईसवी) कृत टीका में आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा 1271 के बाद एक स्वतन्त्र कृति के रूप में सम्मिलित किया है जिसे ध्यानशतक नाम से निर्दिष्ट किया है— 'ध्यानशतकस्य च महार्थत्वद्.... माह'⁴। इस उद्धृत ग्रन्थ की अन्तिम गाथा 106 तथा उस पर टीका आवश्यकनिर्युक्ति के प्रस्तुत संस्करण में उपलब्ध नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं है कि ध्यानशतक में 105 गाथाएँ ही हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में प्रतिक्रमण के प्रकरण में ध्यान का संक्षिप्त निरूपण कर हरिभद्र ने ध्यान के बारे में विस्तृत

जानकारी हेतु ध्यानाध्ययन (ध्यानशतक) में वर्णित ध्यान सम्बन्धी 105 गाथाएँ उद्धृत कर दीं, अन्तिम गाथा में ग्रन्थकार का नामोल्लेख तथा उपसंहार होने से उसे प्रतिक्रमण के प्रकरण में देना आवश्यक नहीं समझा और वैसे भी प्राचीन परम्परा के अनुसार आवश्यकनिर्युक्ति के अधिकांश उद्धृत उल्लेखों में ग्रन्थकार का नामनिर्देश उपलब्ध नहीं है, इसकी विस्तृत चर्चा इसी प्रस्तावना में ध्यानशतक के रचयिता के विषय में विमर्श शीर्षक के अन्तर्गत की गई है। अतः आवश्यकनिर्युक्ति में अन्तिम गाथा की अनुपस्थिति से उसका अभाव मानना युक्तियुक्त नहीं है।

बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने 'ध्यानशतक तथा ध्यानाध्ययन' पुस्तक की अपनी प्रस्तावना में अनावश्यक रूप से जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा इस ग्रन्थ के रचयिता होने के सम्बन्ध में सन्देह व्यक्त किया है। जब ध्यानशतक ग्रन्थ के मूल में ही जिनभद्र क्षमाश्रमण का रचयिता के रूप में उल्लेख किया है तो सन्देह ही नहीं सकता है। ध्यानशतक में 106 गाथाएँ हैं और अन्तिम गाथा अर्थात् 106वीं गाथा जिनभद्र क्षमाश्रमण को रचयिता बताती है। यह बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने अपने अनुवाद में 106वीं गाथा को ग्रन्थ से निकाल दिया है जिसका प्रयोजन उनकी भूमिका से स्पष्ट नहीं है।

इसके अतिरिक्त ध्यानशतक की मध्यवर्ती निम्न गाथा भी आवश्यकनिर्युक्ति में हरिभद्र की टीका में उद्धृत ध्यानशतक में सम्मिलित नहीं की गई है, किन्तु यह गाथा संख्या 45 के रूप में अभिधान राजेन्द्र कोश में संकलित है—

आणा विजए, विवागे, संठाणओ अ नायव्वा।

एए चत्तारि पया, झायव्वा धम्मझाणस्स।।⁵

यह गाथा मुनि दुलहराज ने 'जैन योग के सात ग्रन्थ' नामक संकलन में सम्मिलित तो की है, किन्तु इसे अन्यकर्तृक कहकर इस पर गाथा संख्या 45 अंकित नहीं की है।⁶

इन दोनों गाथाओं को यदि जोड़ा जाय तो इसकी कुल गाथा संख्या 107 होती है। अभिधान राजेन्द्र कोश में उद्धृत ध्यानशतक में 105 गाथाओं के बाद अन्तिम दो गाथाओं को पुष्पिका के रूप में दिया है। इस प्रकार कुल गाथा संख्या 107 मानी गई है।

अभिधान राजेन्द्र कोश में गाथा संख्या का क्रम इस प्रकार है— 'झाण' शब्द के निरूपण में उद्धृत ध्यानशतक की गाथा संख्या 1 से 45 लगातार तथा

51 से 71 'आणा' शब्द के निरूपण में उद्धृत ध्यानशतक की गाथा संख्या 46 से 50।

'जिणविज्ज शब्द के निरूपण हेतु उद्धृत ध्यानशतक की गाथा संख्या 72 से 74 जिसे अभिधान राजेन्द्र कोश के तृतीय भाग में प्रकाशित करने का उल्लेख किया— 'आह—कथं पुनः छद्मस्थः त्रिभुवनविषयं संक्षिप्याणौ धारयति, केवली व ततोऽप्यपनयति। अत्र दृष्टान्तः 'जिणविज्ज' शब्दः तृतीय भागे 1506 पृष्ठे गत।'

'आणाविजय....' गाथा 45 तथा अन्तिम गाथा 'पंचुत्तरेण....' को ध्यानशतक का ही कलेवर मानना न्यायसंगत है, भले वह हस्तप्रति के हाशिये में लिखी गई हो अथवा लिपिकर्ता के प्रमाद से छूट गई हो। 'आणाविजय.....' आदि गाथा चार प्रकार के ध्यातव्य का नाम निर्देश करती है, जिसके पश्चात् क्रमशः आज्ञा आदि विचर्यों का वर्णन 46वीं आदि गाथा में किया गया है। स्वयं टीकाकार हरिभद्र ने 44वीं गाथा की समापन टिप्पणी 'इति गाथार्थः' ॥44 ॥ गतं क्रमद्वारम्,' कहकर अगली गाथा की उत्थानिका करते हुए कहा—इदानीं ध्यातव्यमुच्चते। सम्भवतः यहाँ 'आण.....' आदि 45वीं गाथा का अंकन छूट गया हो। गाथा में चार भेद आज्ञाविचय, अपाय, विपाक और संस्थान को धर्म ध्यान के चार पद के रूप में निरूपण किया है। इस गाथा के सरल अर्थ की व्याख्या हरिभद्र ने इस प्रकार की है—तच्चतुर्भेदमाज्ञादि; उक्तं च 'आज्ञाऽपयविपाक-संस्थानविचयाय धर्म' (तत्त्वार्थे अ. 9 सूत्र 36) मित्यादि, तदुपरान्त अगली गाथा के पूर्व 'तत्राद्यभेदप्रतिपादनायाह'— लिखकर उत्थानिका की एवं प्रथम आज्ञाविचय का वर्णन करने वाली गाथा 'सुनिउण' को उद्धृत किया।⁸ इस प्रकार 'आणा...' आदि गाथा को 45 गाथा के रूप में स्वीकार करना चाहिये तथा अन्तिम गाथा 'पंचुत्तरेण.....' तथा इसकी पूर्ववर्ती 'इय सव्वगुणाधाणं.....' इस ध्यान की प्रशंसात्मक गाथा को मिलाकर दो गाथाओं को पुष्पिका तथा 105 गाथाओं को ध्यान का कलेवर स्वीकार करना चाहिये।⁹

अन्तिम दो गाथाओं द्वारा उपसंहार करने की परम्परा अन्यत्र विशेषावश्यक भाष्य में भी उपलब्ध है। हेमचन्द्राचार्य ने इसकी वृत्ति में अन्तिम दो गाथाओं से पूर्व ग्रन्थ के उपसंहार का निर्देश किया है—

अथप्रकृतोपसंहारार्थमात्मन औद्धत्य परिहारार्थं च
श्रीजिनभद्रगाणिक्षमाश्रमण पूज्याः प्राहुः—

इयं परिसमापियं सामाइअ मत्थओ समासेण।

वित्थरओ केवल्लिणो पुव्वविओ वा पहासंति ॥ 3602 ॥

सव्वाणुओगमूलं भासं समाइअस्स सोऊण।

होइ परिकम्मिअमई जोग्गो सेसाणुओगत्स।।3603।।¹⁰

अर्थात् इस प्रकार यह सामायिक (आवश्यक ग्रन्थ के सम्पूर्ण भाष्य का प्रथम अध्ययन सामायिक) का संक्षेप में अर्थकथन समाप्त हुआ। इसका विस्तार केवली अथवा पूर्वो के ज्ञाता प्रभाषित करते हैं। सभी अनुयोगों के मूल सामायिक के भाष्य को सुनकर निर्मलमति हुआ व्यक्ति शेष अनुयोगों में कुशल हो जाता है।

उक्त गाथा द्वयपरक उपसंहार प्राप्त होने से जिनभद्र रचित ध्यानशतक में भी अन्तिम दो गाथाओं के उपसंहार का प्रचलन माना जा सकता है। इतना होने पर भी प्रायः विद्वान् 45 गाथा को हाशिये की गाथा मानकर मूल कलेवर में सम्मिलित नहीं करते हैं और अन्तिम गाथा को भी अन्यकर्तृक कहकर ध्यानशतक को 105 गाथाओं की रचना मानते हैं, यह उचित नहीं है। उपर्युक्त शोध के आधार पर ध्यानशतक की 107 गाथाएँ माननी चाहिए। यह प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि ध्यानशतक में 105 गाथाएँ मानना उचित नहीं है, भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट की हस्तप्रति के आधार पर ध्यानशतक में 106 गाथाएँ हैं तथा अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार ध्यानशतक में 107 गाथाएँ हैं।

ध्यानशतक के रचयिता के विषय में विमर्श

ध्यानशतक के रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं। ऐसा ध्यानशतक की अन्तिम गाथा के रूप में उपलब्ध परम्परा से स्पष्ट है।¹¹ पण्डित दलसुख मालवणिया ने गणधरवाद की प्रस्तावना में ध्यानशतक की गाथाओं के व्याख्याकार हरिभद्र को उद्देश्य कर इस प्रकार लिखा है— 'आचार्य हरिभद्र ने उसकी सभी गाथाओं की व्याख्या भी की है, किन्तु उसमें उन्होंने इस ग्रन्थ को 'शास्त्रान्तर' कहकर भी यह नहीं बताया कि वह किसकी रचना है? आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने भी अपनी टिप्पणी में रचयिता के विषय में कोई संकेत नहीं किया, अतः इस कृति का आचार्य जिनभद्र द्वारा लिखा जाना संदिग्ध है।' मालवणियाजी आगे लिखते हैं— '.....आचार्य हरिभद्र ने ध्यानशतक में प्रतिपादित विषय की महत्ता के कारण ही इसे शास्त्रान्तर कहा है। इस उल्लेख से हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि आचार्य हरिभद्र ने आचार्य जिनभद्र के इस ध्यानशतक को उपयोगी समझकर आवश्यकनिर्युक्ति में समाविष्ट कर लिया और उसकी व्याख्या भी कर दी। यदि यह कृति भद्रबाहु की न होती तो हरिभद्र स्पष्टतः इस बात को लिखते और यह भी बताते कि यह किसकी रचना है?'¹²

इस सम्बन्ध में मेरा मानना है कि आचार्य हरिभद्र ने ध्यानशतक के रचनाकार का नामोल्लेख नहीं किया, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हरिभद्र ध्यानशतक का रचयिता जिनभद्र को नहीं मानते या हरिभद्र यह नहीं जानते कि ध्यानशतक का रचयिता कौन है? हरिभद्र ने 'शास्त्रान्तर' पद का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि हरिभद्र जिस भद्रबाहु की आवश्यकनिर्युक्ति की व्याख्या कर रहे हैं उस ग्रन्थ से अलग (भिन्न) ग्रन्थ ध्यानशतक है, इसलिये ध्यानशतक के लिए वे 'शास्त्रान्तर' शब्द का प्रयोग करते हैं, अतः ध्यानशतक भद्रबाहु की रचना नहीं हो सकती और ध्यानशतक आवश्यकनिर्युक्ति का एक अंग न होकर स्वतन्त्र भिन्न ग्रन्थ है।

टीकाकारों की यह प्राचीन प्रणाली रही कि वे ग्रन्थकार का स्पष्ट नाम दिये बिना कई बार केवल भाष्यकार/टीकाकार/ग्रन्थकार/आचार्य/ पूर्व सूरिभिः आदि विशेषण देकर ही उनके ग्रन्थों से कुछ भी उद्धरण देते रहे हैं। उदाहरणार्थ—

1. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा एक पर की गई हरिभद्र की टीका में 'भाष्यकार' पद का प्रयोग किया है¹³ और ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार का नामोल्लेख किये बिना विशेषावश्यक भाष्य की गाथा संख्या 436—'दोवारे विजयाईसु....' उद्धृत की है।¹⁴
2. अन्यत्र आवश्यकनिर्युक्ति की 734वीं गाथा पर टीका करते हुए हरिभद्र भाष्यकार के नाम और ग्रन्थ का उल्लेख किये बिना केवल भाष्यकार कहकर एक गाथा उद्धृत करते हैं— आह च भाष्यकारः—

खेत्तं महसेण वणोवलक्खियं जत्थ निग्गथं पुत्विं।

सामाड्यमन्नेसु य परंपरविणिग्गमो तस्स।।।।।¹⁵

यह गाथा जिनभद्र रचित विशेषावश्यक भाष्य की 2089वीं गाथा है,¹⁶ जिसके प्रारम्भ में 'त च' के स्थान पर 'खेत्तं' लिखने का अन्तर है। विशेषावश्यक भाष्य की गाथा 2089 में 'तं च' पद है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि विशेषावश्यक भाष्य की गाथा संख्या 2088 (पृष्ठ-432) का प्रारम्भ 'खेत्तं' से है।¹⁷ लिपिकार की त्रुटिवश ऐसा हुआ है।

3. विशेषावश्यक भाष्य की प्रथम गाथा पर वृत्ति लिखते समय हेमचन्द्र यह जानते हैं कि यह गाथा जिनभद्र की लिखी हुई है फिर भी उस गाथा का प्रारम्भ 'आह भाष्यकारः' से करते हैं।¹⁸
4. हेमचन्द्र-मलधारिन् को ज्ञात है कि जिनभद्र क्षमाश्रमण ने अपने

विशेषाव-श्यक भाष्य पर स्वोपज्ञ लिखा, फिर भी विशेषावश्यक भाष्य की 555वीं गाथा पर टिप्पणी की कि इस गाथा पर पूर्व टीकाकारों ने कोई व्याख्या नहीं की, किन्तु इस पर 'कण्ड्या' कहकर यह गाथा बिना व्याख्या किये छोड़ दी— 'इयं च गाथा पूर्व टीकाकारैर्गृहीता, 'कण्ड्या' इति च निर्दिष्टा, न तु व्याख्याता;....'¹⁹

5. हरिभद्र को ज्ञात है कि आवश्यकनिर्युक्ति भद्रबाहु की रचना मानी जाती रही है, तथापि आवश्यकनिर्युक्ति की प्रथम गाथा की पूर्वपीठिका के प्रारम्भ में गाथा का परिचय केवल 'तच्चेदम्' पद से करते हैं।²⁰

उसी आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा-1 (जो विशेषावश्यक भाष्य भाग-1 के पृष्ठ-26 पर गाथा 79 है) को विशेषावश्यक भाष्य की गाथा 79 अथवा गाथा 80 (पृष्ठ-27) में कहीं पर भी इस रूप से परिचित नहीं कराया है कि वह आवश्यकनिर्युक्ति की प्रथम गाथा है। जिनभद्र ने अपने स्वोपज्ञ भाष्य में भी ऐसा कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है कि 'यह निर्युक्ति गाथा है' अथवा 'यह निर्युक्तिकार भद्रबाहु रचित गाथा है' आदि-आदि।

6. हरिभद्र ने आवश्यकनिर्युक्ति की 'जम्मणे नाम बुड्ढी.....' इस 186वीं गाथा का परिचय मात्र 'आह निर्युक्तिकारः' कहकर दिया, नामोल्लेख नहीं किया।²¹

सारांश यह है कि टीकाकार जानते हुए भी अपनी-अपनी टीकाओं में जो गाथाएँ उद्धृत करते हैं, उन गाथाओं के रचयिता का स्पष्ट नामाभिधान कई बार करते ही नहीं। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि वह उद्धृत गाथा उन टीकाकारों के मत से अन्य लिखित हो अथवा प्रकृत ग्रन्थ की न हो। अतः पण्डित दलसुख मालवणिया द्वारा उठाई गई शंका निर्मूल है तथा ध्यानशतक को जिनभद्र क्षमाश्रमण की रचना मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

पण्डित बालचन्द्र शास्त्री ने भी ध्यानशतक की प्रस्तावना में जिनभद्र क्षमाश्रमण को ध्यानशतक का रचयिता मानने में सन्देह व्यक्त किया है। बालचन्द्र शास्त्री लिखते हैं—'यद्यपि ध्यानशतक की कुछ प्रतियाँ अहमदाबाद, मुम्बई और पाटण में विद्यमान हैं, पर इसके लिये वहाँ लिखने पर न तो कोई प्रति ही मिल सकी और न कुछ उत्तर ही प्राप्त हुआ। इससे उसका सम्पादन आवश्यक सूत्र टीका में उद्धृत व मुद्रित संस्करण तथा विनयसुन्दर चरण ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित स्वतन्त्र संस्करण के ही आधार पर किया गया है।'²²

विनयसुन्दर चरण ग्रन्थमाला से प्रकाशित संस्करण में अन्तिम 106वीं गाथा

में जिनभद्र क्षमाश्रमण को ध्यानशतक का रचयिता बताया है, यह जानते हुए भी बालचन्द्र शास्त्री ने अपनी सम्पादित पुस्तक में इस अन्तिम गाथा को सम्मिलित नहीं कर 105 गाथाओं को ही प्रकाशित कराया है। उन्हीं के शब्दों में— 'यह गाथा स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा रची गई है या पीछे किसी के द्वारा जोड़ी गई है, यह सन्देहास्पद है।'²³ इस कथन से शास्त्रीजी का मन्तव्य स्पष्ट नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ का मङ्गलाचरण जिनभद्र की अन्य कृतियों के मङ्गलाचरण से भिन्न रीति से किया गया है, ऐसा तर्क देकर बालचन्द्र शास्त्री ने जिनभद्र क्षमाश्रमण को ध्यानशतक का रचयिता मानने में शंका उत्पन्न की है।²⁴

इसके अतिरिक्त बालचन्द्र द्वारा ध्यानशतक को जिनभद्र क्षमाश्रमण रचित नहीं मानने के पीछे वे ही तर्क दिये गये हैं जो पण्डित दलसुख मालवणिया ने दिये हैं, जिनका निराकरण किया जा चुका है। जहाँ तक भिन्न मङ्गलाचरण करने का प्रश्न है, भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के लिये भिन्न-भिन्न मङ्गलाचरण होना स्वाभाविक है कोई दोष या विपत्ति नहीं। ध्यानशतक ध्यान विषयक ग्रन्थ होने से वीर को योगीश्वर कहना अधिक स्वाभाविक है। योगशास्त्र पर स्वोपज्ञ विवरण प्रारम्भ करते हुए हेमचन्द्राचार्य ने भी श्रमण भगवान् महावीर को योगीनाथ कहा है—

नमो दुर्वाररागादि - वैरिवार - निवारिणे ।

अर्हते योगिनाथाय, महावीराय तायिने ।।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक में मङ्गल गाथा में जोईसरं-सरणं-वीरं के द्वारा ब्राह्मण-बौद्ध-श्रमण तीनों परम्पराओं के गुम्फन का प्रयास किया प्रतीत होता है।

वैदिक, जैन एवं बौद्ध साहित्य में योग

वैदिक साहित्य में 'योग' का अर्थ प्रायः 'समाधि' है।²⁵ जैन एवं बौद्ध साहित्य में योग (प्राकृत में जोग) शब्द का सामान्य अर्थ क्रिया (प्रवृत्ति) है जो शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती है।²⁶ बौद्ध साहित्य में निरूपित काययोग, भावयोग, दिट्ठियोग, अविज्जायोग आदि में योग शब्द का प्रयोग संयोजन (बन्धन) अर्थ में हुआ है।²⁷ जैन दर्शन में आस्रव के अर्थ में योग का प्रयोग हुआ है।²⁸ योग का सीधा अर्थ है जोड़ना।²⁹ अशुभ पापकर्म योगों का प्रतिक्रमण तथा ध्यान द्वारा प्रशस्त योग का सेवन करना अभीष्ट माना गया है।³⁰

जैन आगमों में योग शब्द का प्रयोग उपपद शब्दों के साथ जुड़कर भी हुआ है। उदाहरणार्थ—ज्ञाणयोग (ध्यानयोग)³¹; समाहिजोग (समाधियोग)³²;

संजमयोग (संयमयोग) तथा सज्जायजोग (स्वाध्याययोग)³³; अज्जप्पझाणजोग (अध्यात्मध्यानयोग)³⁴ तथा सामणाणं जोगाणं (श्रामण्य योग)³⁵ आदि।

समवायाङ्ग सूत्र में बत्तीस योगों का संग्रह है।³⁶ जो आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा संख्या 1274 से 1278 में वर्णित हैं।³⁷ आवश्यकनिर्युक्ति में प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक में क्रम प्राप्त बत्तीस योगसंग्रह प्रतिक्रमण करने का निरूपण है। मन-वचन-काया के व्यापार योग हैं। अशुभ से लौटना या अशुभ का पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है, अतः शुभ योगों का ही संग्रह किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति की हरिभद्र कृत टीका में इन योगों को लघु कथाओं के दृष्टान्तों से समझाया गया है तथा इन योगों में मुनि-आचार एवं निर्वाण मार्ग से सम्बन्धित विभिन्न साधना पद्धतियों का संकलन किया गया है। ये 32 योग निम्नानुसार हैं—

1. आलोयणा (आलोचना)—गुरु के समक्ष अपने दोषों को निवेदन करना आलोचना है।
2. निरवलाव (निरपलाप)—आचार्य द्वारा शिष्यों के आलोचित दोष अन्य किसी को नहीं बताना।
3. आवईसु दढधम्मया (आपत्ति में दृढधर्मता)—आपत्तियों के समय धर्म में दृढ रहना।
4. अणिस्सिओवहाणे (अनिश्रितोपधान)—अन्य किसी की सहायता के बिना उपधान अर्थात् तप करना। प्रशस्त योगसंग्रह के लिए साधु को चाहिये कि वह इहलौकिक और पारलौकिक अपेक्षा के बिना तप करे।
5. सिक्खा (शिक्षा)—प्रशस्त योगसंग्रह हेतु शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करना चाहिये। हरिभद्र ने आवश्यकनिर्युक्ति टीका में शिक्षा के दो प्रकार बताये हैं— 1. ग्रहण शिक्षा 2. आसेवन शिक्षा।
6. गिप्पडिकम्मया (निष्प्रतिकर्मता)—शरीर संस्कार न करना।
7. अण्णायया (अज्ञातता)—प्रशस्त योग संग्रह के लिए अपनी तपश्चर्या को गुप्त रखना।
8. अलोहे (अलोभता)—लोभ रहित होना।
9. तितिक्खा (तितिक्षा)—परीषहों पर विजय पाना।
10. अज्जवे (आर्जव)—ऋजुता।
11. सुई (शुचि)—संयम का पालन।
12. सम्मदिट्ठी (सम्यग्दृष्टि)—अविपरीत दृष्टि रखना।

13. समाही (समाधि)—चित्त का स्वास्थ्य अथवा चित्त की एकाग्रता ।
14. आचारे (आचार)—माया रहित आचरण ।
15. विणओवए (विनय)—विनय । मान-अहंकार नहीं करना ।
16. धिई मई (धृतिमति)—धैर्यप्रधान बुद्धि ।
17. संवेगे (संवेग)—संसार से उदासीनता ।
18. पणिही (प्रणिधि)—सुदृढ़ निश्चय, चित्त की एकाग्रता । हरिभद्र ने प्रणिधि का अर्थ माया किया है तदनुसार माया न करना, प्रशस्त योग संग्रह के लिए है । यहाँ अपणिही नहीं होने से 'पणिही' का प्रणिधान अर्थ लिया है ।
19. सुविही (सुविधि)—सद् अनुष्ठान ।
20. संवरे (संवर)—आस्रव-निरोध ।
21. अत्तदोसोवसंहारो (आत्मदोषोपसंहार)—अपने दोषों का निरोध ।
22. सव्वकामविरत्तिया (सर्वकामविरक्तता)—सभी प्रकार की कामनाओं से वैराग्य ।
23. पच्चक्खाण (प्रत्याख्यान)—पंचमहाव्रत रूप मूलगुण विषयक प्रत्याख्यान ।
24. पच्चक्खाण (प्रत्याख्यान)—स्वाध्यायादि उत्तरगुण-विषयक प्रत्याख्यान ।
25. विउस्सग्गे (व्युत्सर्ग)—द्रव्य-त्याग और भाव-त्याग ।
26. अप्पामए (अप्रमाद)—प्रमाद रहित होना ।
27. लवालवे (लवालव)—साध्वाचार का सतत प्रतिक्षण पालन ।
28. ज्ञाणसंवरजोगे (ध्यानसंवरयोग)—ध्यानात्मक संवरयोग ।
29. उद्दए मारणंतिए (मारणांतिक-उदय)—मारणान्तिक वेदना होने पर भी क्षोभ रहित होना ।
30. संगणं परिण्णा (संग-परिज्ञा)—आसक्ति का ज्ञान एवं प्रत्याख्यान ।
31. पायच्छित्तकरणे (प्रायश्चित्त-करण)—प्रायश्चित्त करना ।
32. आराहणा य मरणंते (मारणान्तिक आराधना)—तप द्वारा शरीर एवं कषायों को क्षीण करना ।

ध्यान प्रतिक्रमण का एक अङ्ग है, अतः प्रतिक्रमण-आवश्यक में वर्णित उपर्युक्त बत्तीस योगों में निहित हार्द ध्यानशतक में भी उपलब्ध है ।

जिनभद्र क्षमाश्रमण के ध्यानशतक में ध्यान में सुनिश्चल (स्थिर) होने के लिए विविध साधन और साध्य बताए गये हैं, जैसे—एक वस्तु में चित्त को स्थिर करना, मन-वचन-काय के व्यापार रूप योग का समाधान एवं निरोध³⁸; वस्तुस्वभाव-चिन्तन, मध्यस्थभावस्थिति³⁹; ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्य भावना⁴⁰; सूत्र आलम्बन⁴¹; आज्ञा-अपाय-विपाक-संस्थान का चिन्तन⁴²; क्षमा-ऋजुता-निर्लोभता का आलम्बन⁴³; परमाणु में मन का निरोध तथा अमन होना⁴⁴। इनमें ध्यान के साधन और साध्य की समानता दृष्टिगत होती है।

ध्यानशतक के लिए सम्यक्त्व गुण महत्त्वपूर्ण माना है, दर्शनशुद्धि ध्यान में चित्त भ्रान्ति को दूर कर देती है—‘होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए ज्ञाणंमि।’⁴⁵ जो स्वयं को शंका-कांक्षा-विचिकित्सा-परपाखण्डप्रशंसा-परपाखण्डस्तुति दोषों से रहित तथा प्रशम-संवेग-निर्वेद-अनुकम्पा-आस्तिक्य तथा स्थैर्य आदि गुणों से युक्त कर लेता है वह दर्शन शुद्धि के कारण ध्यान में अभ्रान्त चित्त वाला हो जाता है। इस दृष्टि से उत्तराध्ययन सूत्र के ‘सम्मत्तपरिकम्म’ नामक उनतीसवें अध्ययन में उपलब्ध 75 पदों का परिचय भी इस प्रस्तावना में उपयोगी होगा, अतः उनकी सूची निम्नानुसार प्रस्तुत है :

सम्यक्त्व परिकर्म—

- | | |
|-----------------------|---------------------------|
| 1. संवेग | 2. निर्वेद |
| 3. धर्मश्रद्धा | 4. गुरु-साधर्मिक शुश्रूषा |
| 5. आलोचना | 6. निन्दा |
| 7. गर्हा | 8. सामायिक |
| 9. चतुर्विंशतिस्तव | 10. वन्दना |
| 11. प्रतिक्रमण | 12. कायोत्सर्ग |
| 13. प्रत्याख्यान | 14. स्तवस्तुति-मंगल |
| 15. काल प्रतिलेखन | 16. प्रायश्चित्तकरण |
| 17. क्षमापना | 18. स्वाध्याय |
| 19. वाचना | 20. प्रतिपृच्छना |
| 21. परिवर्तना | 22. अनुप्रेक्षा |
| 23. धर्मकथा | 24. श्रुत-आराधना |
| 25. एकाग्रमनसन्निवेशन | 26. संयम |
| 27. तप | 28. व्यवदान |

- | | |
|------------------------------------|----------------------------|
| 29. सुख की स्पृहा का त्याग | 30. अप्रतिबद्धता |
| 31. विविक्त शयनासन सेवन | 32. विनिवर्तना |
| 33. सम्भोग प्रत्याख्यान | 34. उपधि प्रत्याख्यान |
| 35. आहार प्रत्याख्यान | 36. कषाय प्रत्याख्यान |
| 37. योग प्रत्याख्यान | 38. शरीर प्रत्याख्यान |
| 39. सहाय प्रत्याख्यान | 40. भक्त प्रत्याख्यान |
| 41. सद्भाव प्रत्याख्यान | 42. प्रतिरूपता |
| 43. वैयावृत्य | 44. सर्वगुणसम्पन्नता |
| 45. वीतरागता | 46. क्षान्ति |
| 47. मुक्ति | 48. आर्जव |
| 49. मार्दव | 50. भाव-सत्य |
| 51. करण-सत्य | 52. योग-सत्य |
| 53. मनोगुप्तता | 54. वाक्गुप्तता |
| 55. कायगुप्तता | 56. मनःसमाधारणता |
| 57. वाक् समाधारणता | 58. काय समाधारणता |
| 59. ज्ञान-सम्पन्नता | 60. दर्शन-सम्पन्नता |
| 61. चारित्र-सम्पन्नता | 62. श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह |
| 63. चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह | 64. घ्राणेन्द्रिय-निग्रह |
| 65. जिह्वेन्द्रिय-निग्रह | 66. स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह |
| 67. क्रोध-विजय | 68. मान-विजय |
| 69. माया-विजय | 70. लोभ-विजय |
| 71. प्रेयो-द्वेष-मिथ्या-दर्शन विजय | 72. शैलेषी |
| 73. अकर्मता | |

सम्यक्त्व परिकर्म का प्रारम्भ संवेग से हुआ है तथा समापन अकर्मता से। संवेग का अर्थ है संसार के प्रति भय और तीव्र उदासीनता। ऐसा वैराग्य चित्त की एकाग्रता की प्राथमिक योग्यता है। ध्यानशतक में चित्त के स्थिर अध्यवसान को ध्यान कहा है। पतंजलि भी चित्त के निरोध के लिये अभ्यास और वैराग्य को हेतु मानते हैं।⁴⁶ अकर्मता का अर्थ है सर्वथा कर्ममुक्त होना। ध्यानशतक में ही कहा है कि शुक्ल ध्यान से कर्मों का क्षय होता है और योगी शैलेषी अवस्था को प्राप्त

होता है।⁴⁷ शैलेषी में जीव अकर्मता प्राप्त करता है। अकर्मता से जीव सिद्धि-बोधि-मुक्ति-परिनिवृत्ति एवं सर्व दुःखों के अन्त को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त 73 सम्यक्त्व परिकर्मों में तत्कालीन बिखरी हुई जैन साधना पद्धति का सङ्कलन किया गया है। 1 से 4 श्रद्धा, 5 से 7 में आत्मदोष विवेचन, 8 से 13 में षडावश्यक, 14 से 17 में क्षमापना, 18 से 24 में स्वाध्याय, 25 से 28 में ध्यान-संयम-तप, 29 से 32 में प्रायः अप्रतिबद्धता, 33 से 41 में प्रत्याख्यान, 42 से 45 में आचेलक्य एवं वीतरागता, 47 से 49 में खंति आदि परिकर्म, 50 से 52 में भाव-करण-योग सत्यता, 53 से 58 में त्रिविध गुप्ति और त्रिविध-समाधान रूप संवर एवं समाधि योग, 62 से 66 में इन्द्रिय निग्रह तथा 67 से 70 में कषाय विजय का निरूपण किया गया है, जो प्राचीन जैन प्रत्याहार और ध्यान पद्धति की ओर संकेत करता है। 59 से 61 सम्यक्त्व परिकर्म रत्नत्रय हैं जो मोक्ष के मार्ग का निर्देश करते हैं तथा 71 में मिथ्यात्व विजय, 72 में शैलेषी तथा 73 में अकर्मता को सूचिबद्ध किया है।⁴⁸

पातञ्जलि ने चित्त की निर्मलता के लिये जिन मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का निर्देश किया है, उन्हें वाचस्पति मिश्रकृत तत्त्ववैशारदी टीका में परिकर्म कहा गया है।⁴⁹ इसी सूत्र के व्यासभाष्य में कहा है कि मैत्री आदि की भावना से शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है और चित्त निर्मल होकर एकाग्र हो जाता है।⁵⁰

ध्यानशतक में प्रतिपादित जैन ध्यान पद्धति में पातञ्जल योग सूत्र में वर्णित योग की मूल भावना का समावेश हो जाता है। अष्टाङ्ग योग में 'यम' की प्राथमिकता दी गई है। जैन दर्शन के पाँच व्रतों का 'यम' नाम से निर्देश नहीं मिलता है, किन्तु पाँच व्रतों में यम का समावेश होता है। प्राचीन आगम आचाराङ्ग सूत्र के सत्थपरिण्णा अध्ययन में कहीं व्रत शब्द का निर्देश नहीं है किन्तु इसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि के लिये प्रयुक्त 'यतना' शब्द में 'यम्' धातु का प्रयोग किया गया है। इससे अप्रत्यक्ष रूप से जैन दर्शन में अहिंसा आदि के लिये 'यम्' धातु निर्देशक प्रयोग मिलते हैं।

जैन सम्मत भावना तथा अनुप्रेक्षा एवं बाह्याभ्यन्तर तप, चउवीस्तव, वन्दना आदि के अन्तर्गत 'नियम' समावेशित है। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का अन्तर्भाव यथायोग्य समिति, गुप्ति, समाधारणता, प्रतिक्रमण, ध्यान, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान आदि में किया जा सकता है तथापि दोनों धाराओं के पारिभाषिक शब्द भिन्न-भिन्न हैं।

ध्यानशतक

जैन आगमों में प्रचलित आवश्यकनिर्युक्ति में प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक में 105 प्राकृत गाथाओं में निबद्ध एक ध्यानशतक नाम से प्रसिद्ध 'ध्यानाध्ययन' मिलता है।⁵¹ यह ध्यानशतक विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की रचना है।⁵² जैन दर्शन में ध्यान पर यही एक अद्वितीय अध्ययन है जो आवश्यकनिर्युक्ति से जुड़ा हुआ है। ध्यानशतक आवश्यक निर्युक्ति पर हरिभद्र (आठवीं शती ईसवी) कृत टीका (विवृत्ति/विवरण) के साथ ही उपलब्ध होता है। इससे पूर्व न तो स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में और न ही आवश्यक चूर्णि (आवश्यकनिर्युक्ति पर उपलब्ध प्राचीन टीका छठी-सातवीं शती ईसवी) के साथ मिलता है। लेकिन ऐसा लगता है कि ध्यानशतक की प्राचीन परम्परा का अंश आवश्यक चूर्णि में उपलब्ध है और इसी के आधार पर आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक की रचना की हो।

ध्यान के चार प्रकार का वर्णन आगमों में यत्र-तत्र उपलब्ध है किन्तु इस विषय पर मानो एक शोध ग्रन्थ के रूप में प्रथम बार हमें ध्यानशतक उपलब्ध होता है।

ध्यान प्रक्रिया सामान्यतः प्राचीन भारतीय संस्कृति में प्रचलित रही है। इसके कई अंश उत्तरकालीन ब्राह्मण दर्शन (रामायण-महाभारत के बाद) में; बौद्ध दर्शन में एवं जैन दर्शन में उपलब्ध हैं। ब्राह्मण दर्शन के योगसूत्र, शैव दर्शन, हठयोग इत्यादि में ध्यान प्रक्रिया का विस्तार है।

बौद्ध साहित्य में बुद्ध घोष के विसुद्धिमग्ग आदि में तथा जैन दर्शन में ध्यान प्रणाली के प्राचीन अंश आचारांग के लोकविचय अध्ययन, आचारांग के भावना अध्ययन तथा अनुप्रेक्षा में उपलब्ध है।⁵³ और पुराने आगमों में प्रमुखतया आचाराङ्ग सूत्र, उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक में जो मौखिक रूप से चली आ रही परम्परा रही है, उसके उल्लेख स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग इत्यादि आगमों में निर्दिष्ट हैं। इसी प्रकार दिगम्बरों के ग्रन्थ मूलाचार (दूसरी शती ईसवी) और मूलाराधना (तीसरी-चौथी शती ईसवी) जैसे प्राचीन ग्रन्थों में भी ध्यान प्रक्रिया के अंश मिलते हैं।

अर्वाचीन साहित्य को छोड़ दें तो प्राचीन भारतीय संस्कृति में ब्राह्मण, बौद्ध और जैन दर्शन में योग, समाधि और ध्यान का प्रवाह ओतप्रोत होकर चलता रहता था। इन तीनों के प्राचीन समय में अलग-अलग विचार प्रवाह थे, साम्प्रदायिक अथवा विरोधी प्रवाह नहीं। उत्तरकाल में जैसी साम्प्रदायिकता की

भावना बढ़ती गई, वैसी प्राचीन समय में नहीं थी। इन तीनों की मौखिक परम्पराओं में इन सभी का आदान-प्रदान होता रहा है।

सांख्य दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शैव दर्शन, न्याय दर्शन ये—भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ हैं लेकिन उसने साम्प्रदायिकता का वैसा रूप नहीं लिया जैसा कि उत्तरकालीन (तीसरी-चौथी शती ईसवी से) जैन और बौद्ध दर्शन का ब्राह्मण विचारधारा से भेद माना जाने लगा।

भारतीय संस्कृति की इन तीनों चिन्तनप्रधान परम्पराओं में यह मान्यता है कि परमतत्त्व के साथ योग करने से परमशान्ति और मुक्ति मिलती है किन्तु मुक्तिपरक योग सांसारिक प्रवृत्तियों में आसक्त रहे हुए संसारी लोगों के लिए कठिन है, अतः इस योग की सिद्धि के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार की अभ्यास प्रक्रिया हमें वैदिक (ब्राह्मण परम्परा, जो बाद में हिन्दू परम्परा कही जाती है उसमें) और हिन्दू संस्कृति में उपनिषद् और रामायण-महाभारत युग में मिलती है।

परमतत्त्व के साथ चित्त को जोड़ने और उसके साथ उसको सतत जोड़े रखने के प्रवाह हेतु ध्यान का अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार योग के लिये ध्यान अत्यन्त आवश्यक है और सांसारिक योग (आसक्ति) निरोध के लिए भी ध्यान परमावश्यक है।

जैन दर्शन में योग शब्द 'मन-वचन-काय की प्रवृत्ति' अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसका ब्राह्मण सम्प्रदाय में केवल एक चित्त शब्द से निर्देश है। यह चित्त शब्द ध्यानशतक की दूसरी गाथा में ले लिया गया है और इसके आगे सवितर्क-निवितर्क, सविचार-निर्विचार आदि प्रक्रिया ध्यानशतक में मिलती है। वह ब्राह्मण दर्शन-परम्परा के योग सूत्र में भी उपलब्ध है। और ये दोनों प्रक्रियाएँ मानो ओत-प्रोत होकर एक सुन्दर अध्ययन के रूप में ध्यानशतक में वर्णित हैं। फिर भी ध्यानशतक में इनका विस्तार आवश्यकचूर्ण में प्राप्त कई मौलिक गाथाओं पर आधारित है।⁵⁴ प्रमुखतः धर्म ध्यान में संकलित आणा-अपाय-विपाक-संस्थान आदि विचय तथा विविध लेश्याओं का इस ध्यान प्रक्रिया में विश्लेषण मौलिक रूप से सम्पूर्णतः जैन परम्परा के हैं।

आचाराङ्ग सूत्र, सूत्रकृताङ्ग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र तथा दशवैकालिक सूत्र और ऋषिभाषितानि आदि प्राचीन (प्रायः तीसरी शती ईसापूर्व से छठी शती ईसवी) आगम ग्रन्थों के कई सन्दर्भों की समकालीन ब्राह्मण साहित्य के साथ

समानता पाई जाती है। विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर ऐसे कई स्थल उपलब्ध होते हैं जिनमें वैदिक तथा श्रमण परम्परा की विभिन्न अवधारणाओं के लिए प्रायः परस्पर में मिलते-जुलते शब्दों और शैली तथा भावों का प्रयोग हुआ है।⁵⁵ इस प्रकार के विश्लेषणात्मक अध्ययन से ध्यानशतक में गुम्फित ब्राह्मण, बौद्ध और जैन परम्पराओं के सूत्रों को समझने में सहायता प्राप्त होती है। इस प्रस्तावना में उत्तरकालीन दिगम्बर-ग्रन्थों एवं अन्य उन ग्रन्थों के समान स्थलों को प्रायः नहीं लिया गया है जो उपर्युक्त प्राचीन श्वेताम्बर आगमों की अपेक्षा प्रायः परवर्ती है; तथा प्रायः जिन अर्वाचीन ग्रन्थों के स्थलों की ध्यानशतक की गाथाओं के साथ तुलना कर बालचन्द्र शास्त्री ने समानता प्रदर्शित की है।⁵⁶

जिनभद्र क्षमाश्रमण ने ध्यानाध्ययन के प्रारम्भ में शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि से कर्म रूपी ईंधन का क्षय करने वाले योगीश्वर और शरण्य वीर जिन को प्रणाम किया है। आचाराङ्ग सूत्र में भगवान महावीर के शुक्ल ध्यान में स्थित होने का तथा केवल-ज्ञान केवल-दर्शन उत्पन्न होने का स्पष्ट उल्लेख है।⁵⁷ उत्तराध्ययन, औपपातिक सूत्र, भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति, स्थानाङ्ग सूत्र, ज्ञाता धर्मकथा आदि में प्राप्त शुक्ल ध्यान का निरूपण भी द्रष्टव्य है।⁵⁸ ब्राह्मण परम्परा के उत्तरकालीन साहित्य में जैसे—नारदपरिव्राजक उपनिषद्, परमहंसपरिव्राजक उपनिषद्, भिक्षुक उपनिषद्, जाबाल उपनिषद् में उल्लेख है कि जो शुक्ल ध्यान परायण होकर (शरीर का भान छोड़कर) संन्यासपूर्वक देह त्याग करता है वह कृतकृत्य हो जाता है अथवा परमहंस या परमहंस परिव्राजक हो जाता है।⁵⁹ इन उद्धरणों में 'शरीरम् उत्सृज्य' पद के द्वारा ध्यान के साथ कायोत्सर्ग का भी समावेश हो जाता है जो ध्यान से उत्तरवर्ती तथा तप की पराकाष्ठा है।

ध्यानशतक के अनुसार ध्यान की सार्थकता इसमें है कि इससे कर्म भस्मीभूत हो (जल) जाते हैं और संसार का आवागमन समाप्त हो जाता है।⁶⁰

दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि मोह के क्षीण हो जाने पर कर्म उसी प्रकार क्षय हो जाते हैं जैसे ईंधन रहित अग्नि धूम रहित होकर क्षीण हो जाती है।⁶¹ मैत्रायणीय उपनिषद् में भी इसी भाव और भाषा का साम्य द्रष्टव्य है—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यते ।

तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यते ॥⁶²

अर्थात् जिस प्रकार ईंधन रहित वह्नि अपने कारण में विलीन हो जाता है तथैव वृत्तियों के समाप्त (क्षीण) हो जाने पर चित्त अपने कारण में लीन हो जाता है।

दशाश्रुतस्कन्ध में भी कर्म रूपी बीज के क्षय होने पर संसारूपी अंकुरोत्पत्ति का निषेध किया है।⁶³

भगवद्गीता में ध्यान के स्थान पर ज्ञान पद का प्रयोग करते हुए कहा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं.....।⁶⁴

आचाराङ्ग चूर्णि में भी उपर्युक्त भाववाले श्लोक को उद्धृत किया गया है—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।

कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥⁶⁵

सारांशतः संसार परिभ्रमण से बचने हेतु कर्मों के क्षय को सभी परम्पराओं में अनिवार्य माना है। पातंजल योग सूत्र तथा अंगुत्तर निकाय में योगी के कर्म अकृष्ण—अशुक्ल कहे गये हैं।⁶⁶

मज्झिमनिकाय के चूलहत्थिमदोपमसुत्त;⁶⁷ दीघ निकाय के महासतिपट्टानसुत्त; अभिधम्मपिटक के ज्ञाणविभंग; धम्मपद के चित्तवग्ग का अध्ययन ध्यान के भेद-प्रभेदों के वर्णन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सति (स्मृति) और सम्पजञ्च (संप्रज्ञान) मिलकर सतिपट्टान (स्मृति प्रस्थान) है।⁶⁸ सतिपट्टान का अर्थ है—‘जागरूकता को संस्थापित करना’। यह इस प्रकार है—शरीर का द्रष्टाभाव से सतत निरीक्षण कायानुपस्सना है; संवेदनाओं का द्रष्टाभाव से सतत निरीक्षण वेदानुपस्सना है; चित्त का द्रष्टाभाव से सतत निरीक्षण चित्तानुपस्सना है और चित्त में जागने वाले धर्मों का भी द्रष्टाभाव से सतत निरीक्षण धम्मनुपस्सना है। ये चारों सतिपट्टान सत्त्वों की विशुद्धि, शोक और क्रन्दन का विनाश, दुःख और दौर्मनस्य का अवसान, सत्य की प्राप्ति और निर्वाण का साक्षात्कार—इन सबके लिये अकेला मार्ग है। स्मृतिमान जब कायानुपश्यी, वेदानुपश्यी, चित्तानुपश्यी और धर्मानुपश्यी होता है तब संप्रज्ञानी होता है।⁶⁹

बौद्ध पालि साहित्य के अनुसार ध्यान के आठ प्रकारों में प्रथम चार प्रकार के रूप ध्यान हैं तथा अन्तिम चार अरूप ध्यान।

1. प्रथम ध्यान के सहवर्ती घटक वितक्क (वितर्क), विचार, पीति (प्रीति), सुख, चित्तेकगता (चित्तैकाग्रता) हैं।
2. द्वितीय ध्यान के सहवर्ती घटक पीति, सुख, चित्तेकगता हैं।
3. तृतीय ध्यान के सहवर्ती घटक सुख, चित्तेकगता हैं।

4. चतुर्थ ध्यान चित्तेकगता है।
शेष चार अरूप ध्यान हैं—
5. आकासानञ्जायतन-समापत्ति : अनन्त आकाश में ध्यान।
6. विज्जाणञ्जायतन-समापत्ति : अनन्त चेतना में ध्यान।
7. आकिञ्चणञ्जायतन-समापत्ति : शून्य में ध्यान अथवा आकिञ्चन्य में ध्यान।
8. नेव सञ्जानासञ्जायतन-समापत्ति : जहाँ संज्ञा के होने अथवा न होने का भान नहीं हो पाता है।

इन ध्यानों के आगे समाधि की अवस्था 'सञ्जावेदयितनिरोध' कहलाती हैं, जहाँ संज्ञा और संवेदनाएँ समाप्त होकर परमशक्ति की अनुभूति होती है। इस समाधि में कषाय और आस्रव क्षीण हो जाते हैं; यह लोकोत्तर समाधि है, शेष लौकिक। बौद्ध मान्यता के अनुसार भी समाधि अथवा ध्यान से कर्म अनुशय क्षय करके संसार से पार हुआ जाता है।⁷⁰

जैनसम्मत ध्यान, पातञ्जल योग तथा बौद्धसम्मत समाधि में चित्त-निरोध के स्वर हैं⁷¹, तथापि ब्राह्मण, बौद्ध और जैन परम्परा में भावना के द्वारा निर्वाण प्राप्ति, धर्म जागरण, अनागामिता, संसारक्षय तथा ज्ञाता-द्रष्टाभाव के उल्लेख हैं।⁷² जिनभद्र क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक के प्रारम्भ में चिन्तन अथवा अनुप्रेक्षा अथवा भावना से चंचल चित्त को स्थिर करने पर बल दिया है और स्थिर अध्यवसान (चित्त की स्थिरदशा) को ध्यान कहा है। एक वस्तु में लगातार चिन्तन-अनुप्रेक्षा-भावना से होने वाला ध्यान संसारीजन का सामान्यतया अन्तर्मुहूर्त काल रहता है तथापि पुनः-पुनः वस्तु संक्रम से ध्यान परम्परा विस्तृत की जा सकती है। जब एक वस्तु में चित्त स्थिर हो जाता है तो वह स्थिर अध्यवसान ध्यान कहलाता है।⁷³

ध्यान अथवा योग को दो प्रकार से प्रस्तुत किया गया है—

1. चित्त की एकाग्रता।
2. चित्त अथवा योगों (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) का निरोध।

जिनभद्र क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक में एकाग्रता रूप ध्यान को छद्मस्थ का ध्यान कहा तथा केवली का ध्यान योग-निरोध बताया।⁷⁴ पतंजलि के योगसूत्र पर व्यासभाष्य में चित्त की एकाग्रता को सम्प्रज्ञात योग तथा सर्ववृत्ति निरोध को असम्प्रज्ञात समाधि कहा है।

बुद्ध की शिक्षा में भी चित्त की भावना के दो मार्ग बताये हैं—1. समथ

और 2. विपस्सना। समथ का अर्थ है प्रशान्ति। पालि में पस्सदि का संस्कृत रूपान्तर प्रश्रब्धि है। चित्त की प्रशान्ति चित्त की एकाग्रता से सम्बद्ध है तथा विपस्सना का अर्थ है विशेष रूप से अन्तः की ओर देखना, जिससे संवेदनाओं के माध्यम से शरीरादि की अनित्यता का बोध होकर चित्त-निरोध, चित्त का भेदन, अविद्या का निवारण होता है।

विशेषावश्यक भाष्य निर्युक्ति में भी चित्त को एकाग्र करने या निरोध करने को ध्यान कहा है— 'जइ एगगं चित्तं धारयओ वा निरूभओ वा वि। ज्ञाणं होइ ननु... ।।'

समस्त शुभ अथवा अशुभ मानसिक प्रवृत्तियों में ध्यान अथवा समाधि अथवा एकाग्रता का होना बौद्धसम्मत अभिधर्म और पातञ्जल योगसूत्र दोनों में स्वीकार किया है। जैन दर्शन में भी अशुभ ध्यान के अन्तर्गत आर्त एवं रौद्र ध्यान तथा शुभ ध्यान के अन्तर्गत धर्म एवं शुक्ल ध्यान को स्वीकार किया है। स्वभावतः चित्त चंचल होता है, अतः चित्त का जब किसी एक वस्तु में स्थिर अध्यवसान होता है तब उसे ध्यान कहा जाता है। ध्यान से कर्मक्षय की परम्परा मोक्ष या निर्वाण का मार्ग है। देह को आत्मा मानने की समाप्ति और आत्मदर्शन की युक्ति ध्यान है इसलिये ध्यान कर्म से अकर्म होने की प्रक्रिया है, और अकर्म का अर्थ है कर्तृत्व का भान समाप्त होना, ज्ञाता-द्रष्टा भाव में रहना। ध्यानशतक में देहोपधिव्युत्सर्ग द्वारा स्पष्ट किया गया है कि अनासक्त ध्याता आत्मा को तथा देह-मन-वचन के योगों को पृथक्-पृथक् देखता है।⁷⁵

भगवद्गीता का स्पष्ट उद्घोष है कि जिसके कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं, जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं उसे ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं। अनासक्त साधक कर्म में प्रवृत्त होने पर भी अकर्म में रहता है, करता हुआ भी कुछ नहीं करता है, उससे बंधता नहीं है।

ध्यानशतक में ध्यान द्वारा कर्मदहन स्वीकार किया है, यहाँ ज्ञान द्वारा कर्म-दहन। विज्ञान भिक्षु ने योगवार्तिक में कहा है कि जैसे ज्ञान से कर्म क्षय होते हैं तथैव योग (ध्यान) से भी।⁷⁶ प्रमुखता कर्म करते हुए कर्तृत्व भाव से मुक्ति की है। यही मोक्ष का मार्ग है।

इस दृष्टि से ध्यान प्रक्रिया स्वभावतः चंचल चित्त को स्थिर करने पर आधारित है। एक ध्यान की प्रणाली भावना में है; एक ध्यान की प्रणाली अनुप्रेक्षा में है; एक ध्यान की प्रणाली चिन्तन में है।

जैन दर्शन की ध्यान पद्धति में चित्तवृत्ति निरोध हेतु इसमें राग-द्वेष-मोह त्यागपूर्वक पाँच व्रत पालन, चार कषाय निवारण की मुख्य भूमिका है।⁷⁷ ध्यान का विषय भाव है, अतः 25 प्रकार की भावना, 12 प्रकार की अनुप्रेक्षा और 10 प्रकार के चिन्तन द्वारा इसे सुदृढ़ करना होता है। आचाराङ्ग सूत्र के 'सदाचार' नामक द्वितीय स्कन्ध के 'भावना' नामक पन्द्रहवें अध्ययन में भावनासहित पंच महाव्रतों का आख्यान—भाषण और प्ररूपणा की है। धर्म ध्यान के आज्ञा विचय का यह अर्थ है कि पंच महाव्रत की 25 भावना से भावित होने पर आज्ञा (जिनाज्ञा) की आराधना होती है— 'इच्चेएहिं पंचमहव्वएहिं पणवीसाहिं य भावणाहिं संपण्णे अणगारे..... आणाए आराहिता....भवइ।'⁷⁸

पृथ्वीकाय से त्रस पर्यन्त समस्त जीवों को प्राणातिपात का प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा और त्याग करना प्रथम महाव्रत है। चलने-फिरने से, मन से, वचन से, सामग्री के रखने-उठाने से, भोजन-पानी आदि के उपयोग में पूर्णतः प्राणों की सुरक्षा का ध्यान रखना प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

मृषावाद का त्याग द्वितीय महाव्रत है। क्रोध, लोभ, भय और हास्यवश मृषावाद का परित्याग तथा सोच-विचार कर (अनुविचिन्तन करके) बोलना—ये पाँच द्वितीय महाव्रत की भावनाएँ हैं।⁷⁹ इसी प्रकार शेष महाव्रतों की पंच-भावनाओं से चित्त भावित होने पर ध्यान सुकर होता है। धर्म ध्यान तृष्णा छूटने से ही सम्भव है।⁸⁰ अतः भावना को ध्यान में सहायक माना है।

अनित्यादि 12 अनुप्रेक्षाएँ ध्यान हटने पर पुनः ध्यान लगाने में सहायक होती हैं, अतः अनुप्रेक्षा को भी ध्यान का माध्यम माना है। 10 प्रकार के मिथ्यात्व का चिन्तन कर सम्यक्त्व धारण करना ध्यान में सहायक है, अतः चिन्तन भी ध्यान की एक पद्धति है, ध्यान में सहायक है।

देह, भौतिक साधन और संसार से विरक्ति का प्रशिक्षण भावना है, देहात्मभाव की समाप्ति के लिए अशरण आदि अनुप्रेक्षा में ध्यान लगाना अनुप्रेक्षा है और चित्त का मानसिक अनुशासन चिन्तन है।

ध्यान के प्रारम्भ में चिन्ता और भावना तथा ध्यान के अन्त में बारह अनुप्रेक्षाएँ (छः संसार की असारता की सूचक और छः धर्म की सारभूत)—यह ध्यान की शास्त्रीय प्रक्रिया है।

ध्यान का बाधक तत्त्व संशय (शंका-कांक्षा-वित्तिगिच्छा) है। ध्याता का संशय सर्वथा मिटने से पूर्व समाधि लाभ नहीं होता। आचाराङ्ग के अनुसार जब तक चित्त वित्तिगिच्छा अर्थात् संशयग्रस्त है तब तक परमशान्ति स्वरूप

समाधि सम्भव नहीं है—'वित्तिगिच्छासमावण्णेणं अप्पाणेणं णो लभइ समाहिं ।'⁸¹

जिसकी तृष्णा शान्त हो गई है ऐसा मुनि जब श्रेष्ठ धर्म का ध्यान करता है तब समाहित उस मुनि के अग्निशिखा के समान तप-प्रज्ञा-यश (संयम/कीर्ति) की वृद्धि होती है। ध्यान से तप की सामर्थ्य बढ़ती है, प्रज्ञा विकसित होती है और संयम (आत्मा की शुद्धि) की वृद्धि होती है।⁸²

आयतचक्षु (द्रष्टा) साधक लोक का ध्यान करता था। लोक ध्यान अन्तःचक्षु द्वारा (अन्तःद्रष्टा बनकर) शरीर के भीतर अशुचि दर्शन तथा अनित्य दर्शन से वैराग्य भाव पुष्ट करने का ध्यान था।⁸³

भारतीय दर्शन की ब्राह्मण, बौद्ध या जैन दर्शन परम्परा हो, सभी में संसार को असार (हेय) बताया गया है और आध्यात्मिक जीवन जीने हेतु सांसारिक आसक्ति के त्याग के अनुशासन हेतु कई तरीके प्रस्तुत किये हैं जिनमें पारिभाषिक पदावली में अन्तर हो सकता है, किन्तु प्रयोजन प्रायः समान ही होता है—संसार के बन्धन से मुक्ति। ब्राह्मण परम्परा में भावना तथा अनुदर्शन आत्मानुशासन के साधन बताए गये हैं। योगसूत्र (1/33) में चित्त की निर्मलता के लिये मैत्री आदि की भावना करने की अनुशंसा की है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यवत्सु भावनातः चित्तप्रसादनम् ।

भगवद्गीता (13/8) में भक्तों को निर्देश दिया गया है कि वे संसार के भोगों से प्राप्त जन्म-मरण-जरा-रोग में दुःख और दोषों का अनुदर्शन करें। विष्णुपुराण (6/7) में चित्त की एकाग्रता के लिये तीन प्रकार की भावना का उपदेश दिया गया है—ब्रह्म भावना, कर्म भावना और भाव भावना।

आचाराङ्ग (भाग-2, अध्याय 15) के भावना अध्ययन में श्रमणाचार की 25 भावनाओं का वर्णन किया गया है।

जैन दर्शन में अणुवेक्खा (अनुप्रेक्षा) का उल्लेख सर्वप्रथम प्राचीन आगम आचाराङ्ग के लोगविचय (लोकविचय) नामक द्वितीय अध्याय के छठे उद्देशक में है। इस लोकविचय अध्याय में 'संपेहाए' का प्रयोग कई बार हुआ है जिसका अर्थ है संप्रेक्षा करें, भली प्रकार से ध्यान रखें, संसार के स्वरूप की संप्रेक्षा करें, संसार का त्याग करें और श्रमण बनें। 'विचय' शब्द ध्यान के प्रसङ्ग में आज्ञा-अपाय-विपाक-संस्थान के साथ जुड़कर रूढ़ हो गया। 'विचय' शब्द का प्रयोग आज्ञा-विचय आदि से अलग स्वतन्त्र रूप से जैन शास्त्रों में नहीं देखा जाता है।

संसार का वर्णन, उसकी असारता का चिन्तन और संसार का त्याग—यह लोकविजय की अनुशासन पद्धति है, जिससे 'अणुवेक्खा' का जन्म हुआ प्रतीत होता है। 'संसार लुभाने वाला है' और 'संसार बाँधने वाला है'—इस वर्णन से 'अणुपेहा' के चार पारिभाषिक शब्द जैसे 'अनन्तवट्टियं' अथवा 'भवसंताणमणन्तं'; 'विपरिणामं'; 'संसारासुहाणुभात्तं', 'आसवदारावाए' (आस्रवों के अपाय का चिन्तन) बने। इनमें से अनन्तवर्तिता, विपरिणाम प्रारम्भिक स्थिति रही होगी जिन्हें बाद में शुक्ल ध्यान से जोड़ दिया गया होगा।⁸⁴ तब क्रमशः संसार-अनुप्रेक्षा का विकास हुआ। इन तीन के आधार पर चौथी अशुभ अनुप्रेक्षा (संसार अशुभ है इस भाव से) रखी गई जिसका नाम अशुचि (शरीर के अशुचि होने के लिए) के रूप में स्थिर हुआ। शारीरिक अशुचि और ज्ञान दुर्लभ होने से क्रमशः अशुचि अनुप्रेक्षा और बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा नाम पड़े।

ब्राह्मण साहित्य में भी शारीरिक अशुचि के उल्लेख उपलब्ध हैं। अनुप्रेक्षा के सम्बन्ध में संसार की दशा के वर्णन के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता।

धर्म ध्यान के संस्थान विचय और अनुप्रेक्षा के 'लोग' तत्त्व की विषयवस्तु समान है किन्तु प्रयोजन भिन्न है। संसार के वर्णन में लोग का निरूपण लोक की रचना बताना था कि ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोक की गतियों में स्थानान्तरण होता है—लोगस्स अहे उद्धं, तिरियं भागं जाणइ गढिए अणुपरिवट्टमाणे..... आचाराङ्ग सूत्र 2/5/4

द्वादश अनुप्रेक्षाओं में अणिच्च, असरण, एगत्त, असुचि (संसार), अण्ण आदि जीव तथा संसार के स्वरूप को अभिव्यक्त करती हैं, उनमें भी अणिच्च, असरण, असुचि प्रमुखतया जीव शरीर से सम्बद्ध हैं। एगत्त को असरण से उद्भूत माना जा सकता है और 'अण्ण' (अन्यत्व) का उद्भव शरीर की असुचि से हुआ, क्योंकि जीव शरीर (अशुचि) से भिन्न (अण्ण) है। आगमों में भी एगत्त अनुप्रेक्षा कभी असरण के साथ तो कभी अण्ण के साथ मिली हुई है।

अनुप्रेक्षा द्वारा ध्यान करने की पद्धति में आसव (आस्रव), संवर, णिज्जरा (निर्जरा) अन्त में जुड़े। इन तीनों का अनुप्रेक्षा के रूप में प्रयोग तब हुआ जब धम्म और बोधि को अनुप्रेक्षा के रूप में स्वीकार किया। परवर्ती शास्त्रों में भारतीय दर्शन में धर्म को स्वीकार किया और आस्रव-संवर-निर्जरा प्रभावी नहीं रहे, किन्तु 12 अनुप्रेक्षाओं में उनका स्थान बना रहा। अनुप्रेक्षा में संसार से विरक्ति का भाव प्रमुख रहा।

अनुप्रेक्षा

जैन दर्शन में अणुपेहा (अनुप्रेक्षा) को ध्यान के अभ्यास में सहायक माना है। अनुप्रेक्षा का इस रूप से अन्य किसी दर्शन में उल्लेख नहीं है। गुणस्थान की दृष्टि से भी अनुप्रेक्षा का सम्बन्ध जैन दर्शन की विशेषता है। आगम तथा आगमेतर ग्रन्थों में कहीं-कहीं 12 अनुप्रेक्षाओं को सामूहिक रूप से 12 भावनाएं भी कह दिया गया है। 1. अध्रुव (अनित्य) 2. अशरण 3. एकत्व 4. अन्यत्व 5. संसार 6. लोक 7. अशुचित्व 8. आस्रव 9. संवर 10. निर्जरा 11. धर्म-स्वाख्यात और 12. बोधि दुर्लभ—ये बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं।

ध्यानशतक में अनुप्रेक्षा के सन्दर्भ उपलब्ध हैं।⁸⁵ वट्टकेर के मूलाचार⁸⁶, शिवार्य के मूलाराधना⁸⁷ में अन्य विषयों के साथ बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। कुन्दकुन्दाचार्य के 'बारस-अणुवेक्खा' में बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन निरूपण किया गया।⁸⁸

श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में औपपातिक सूत्र, भगवती सूत्र, स्थानाङ्ग सूत्र, आवश्यक चूर्णि, ध्यानशतक आदि में अनुप्रेक्षा के नाम पर एकत्व, अनित्य, अशरण, संसार, अशुभ आदि का उल्लेख है।⁸⁹

महानिशीथ⁹⁰ तथा तत्त्वार्थसूत्र⁹¹ आदि ग्रन्थों में 12 अनुप्रेक्षाओं के नाम गिनाएँ हैं।

दस प्रमुख प्रकीर्णकों में से मरणसमाधि (मरण-विभक्ति) में 12 अनुप्रेक्षाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है।⁹² और अन्त में जिन-मत भावित चित्त होकर धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में मति को निवेशित करने के निर्देश दिये हैं।

कई स्थलों पर अनुप्रेक्षा का नामोल्लेख नहीं करते हुए और अन्यत्व, एकत्व, अशरण, संसार आदि अनुप्रेक्षाओं के नाम देते हुए उनका तात्पर्य वर्णित है।⁹³

इन आगम ग्रन्थों में अनुप्रेक्षा और तप के बारह भेदों (छः बाह्य तथा छः आभ्यन्तर) का निरूपण साथ-साथ चलता है। छः प्रकार के आभ्यन्तर तप 1. प्रायश्चित्त 2. विनय 3. वैयावृत्य 4. स्वाध्याय 5. ध्यान 6. व्युत्सर्ग हैं। स्वाध्याय के पाँच में से एक भेद के रूप में 'अणुपेहा' पद का अर्थ भिन्न है तथा अन्यत्र अणुपेहा पद द्वादश अनुप्रेक्षाओं के अर्थ में ज्ञाण (ध्यान) के निरूपण में आया है।

स्वाध्याय के भेदों में वाचना (आगम का वाचन करना, पढ़ना); पृच्छना (मूल की व्याख्या हेतु प्रश्न पूछना); परियट्टना (अभ्यास करना);

अणुपेहा—अनुप्रेक्षा (पूर्व पठित का मूल और अर्थ याद करना); धर्मकथा (व्याख्यान देना) में अनुप्रेक्षा का प्रयोग सदा एकवचन में हुआ है जिसका सम्बन्ध आगमों के अध्ययन-मनन से है। यहाँ अनुप्रेक्षा का अर्थ आगम ग्रन्थों के मूल व अर्थ को हृदयंगम या स्मरण या याद करना है, जो अर्थ बारह अनुप्रेक्षाओं (बहुवचन) से भिन्न है।⁹⁴ तप के भेदों में सम्मिलित स्वाध्याय का महत्त्व जैन तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पतंजलि के योग सूत्र पर व्यासभाष्य में कहा है कि स्वाध्याय से योग (ध्यान) होता है और योग से स्वाध्याय। स्वाध्याय और योग से परमात्मा प्रकाशित होता है।⁹⁵ तप और स्वाध्याय ये दो भिन्न तत्त्व साथ-साथ चलते हैं।⁹⁶

स्वाध्याय और प्रवचन ऋत, सत्य, तप और नाक (स्वर्ग) है—ऐसा उपनिषद् वचन है, स्वाध्याय और तप भिन्न-भिन्न होकर भी यहाँ साथ-साथ चलते हैं।⁹⁷ सारांशतः स्वाध्याय का भेद अनुप्रेक्षा और द्वादश अनुप्रेक्षाएँ साथ-साथ चलती हैं।

धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा के साथ ध्यान करने की परम्परा आवश्यकचूर्णि की कतिपय गाथाओं तथा ध्यान-शतक की गाथाओं में प्रदर्शित है। यद्यपि आवश्यकचूर्णि और ध्यानशतक की गाथाएँ भिन्न हैं तथापि ध्यान का वर्णन दोनों में प्रायः समान है। यही परम्परा औपपातिक, भगवती सूत्र, स्थानाङ्ग सूत्र में तो मिलती है किन्तु प्राचीन आगम जैसे उत्तराध्ययन (30.6-37), आचाराङ्ग, आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 1462-1496, तत्त्वार्थसूत्र 9/19-46 में धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की सीधी परम्परा है, लक्षण-आलम्बन और अनुप्रेक्षा के माध्यम से नहीं।

जिनभद्र क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक में चार प्रकार के ध्यान का निरूपण किया है— 1. आर्त ध्यान 2. रौद्र ध्यान 3. धर्म ध्यान और 4. शुक्ल ध्यान।

आर्त ध्यान तथा रौद्र ध्यान को हेय बताकर उपादेय धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का निरूपण 12 द्वारों से करते हैं⁹⁸—

- | | |
|----------------|-------------|
| 1. भावना | 2. देश |
| 3. काल | 4. आसनविशेष |
| 5. आलम्बन | 6. क्रम |
| 7. ध्यातव्य | 8. ध्याता |
| 9. अनुप्रेक्षा | 10. लेश्या |
| 11. लिंग | 12. फल |

जिनभद्र क्षमाश्रमण ने जैन परम्परानुसार ध्यान के देश-काल-आसन विशेष के लिए कोई अनिवार्यता स्वीकार नहीं की है, ध्यान में जो सहायक हो वही ध्यान का देश-काल-आसनविशेष उचित है। शेष द्वारों को अत्यन्त सरल तरीके से समझाया गया है।

चार प्रकार के ध्यान

आर्त ध्यान में इन्द्रिय सुख को प्राप्त तथा दुःख से छूटने की चिन्ता रहती है।⁹⁹ आर्त ध्यान के चार लक्षण हैं—क्रन्दन, शोचन, परिवेदन और ताड़न (अथवा आक्रन्दन, शोक, तिप्पण और विलपन)। रौद्र ध्यान को चार व्रतों के विपरीत व्यवहार करने से जोड़ा गया है जैसे—हिंसा, मृषा, स्तेय, संरक्षण (परिग्रह)। इस ध्यान के चार लक्षण इस प्रकार हैं (जो दोष कहे गये हैं)—उत्सन्न, बहुल, अज्ञान (नानाविध) और आमरण।¹⁰⁰ भगवद्गीता में वर्णित आर्त, अर्थार्थी¹⁰¹ तथा आसुरी प्रवृत्तियों¹⁰² के साथ तुलना की जा सकती है। आर्त और रौद्र ध्यान संसारी व्यक्तियों के ऐसे व्यवहार का वर्णन करता है जो निन्दनीय है, अधम गति में ले जाने वाला तथा बन्धकारी है।¹⁰³ आर्त और रौद्र ध्यान हेय हैं, त्याज्य है, इसीलिये आर्त और रौद्र ध्यान के आलम्बन और अनुप्रेक्षा द्वार नहीं हैं। ध्यानशतक तथा आवश्यकचूर्णि में धर्म ध्यान के चार प्रकारों—आणा (आज्ञा) विचय, अवाय (अपाय) विचय, विवाग (विपाक) विचय तथा संठाण (संस्थान) विचय का निरूपण किया गया है।¹⁰⁴

आवश्यकचूर्णि में वर्णित चार अनुप्रेक्षाओं, अणिच्च (अनित्य), असरण (अशरण), एगत्त (एकत्व) और संसार की तुलना के लिए ध्यानशतक द्रष्टव्य है;¹⁰⁵ गिसगरुइ (निसर्गरुचि), आणारुइ (आज्ञारुचि), सुत्त रुइ (सूत्र रुचि) और ओगादरुइ (अवगादरुचि)—ये चार धर्म ध्यान के लक्षण हैं, जो ध्यानशतक से तुलना योग्य हैं।¹⁰⁶

धर्म ध्यान के लक्षण के अन्तर्गत आज्ञा आदि चार रुचि के वर्णन का आधार उत्तराध्ययन (28/26-17); (प्रज्ञापना 1/74/1-12); (मूलाचार, 9) में प्राप्त 'रुइ' की सूचि प्रतीत होता है।

आवश्यकचूर्णि में वायणा (वाचना), पुच्छणा (पृच्छना), परियदुण (परिवर्तना) और अणुपेहा (अनुप्रेक्षा) ये चार धर्म ध्यान के आलम्बन कहे गये हैं। ध्यानशतक में अनुप्रेक्षा के स्थान पर अनुचिन्ता का प्रयोग करते हुए धर्म ध्यान के इन चार आलम्बनों का उल्लेख किया है।¹⁰⁷

इस प्रकार स्वाध्याय के भेदों में परिगणित अनुप्रेक्षा तथा अनित्य-अशरण आदि अनुप्रेक्षाओं में अन्तर को इंगित करने की दृष्टि से सम्भवतः जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा धर्म ध्यान के आलम्बन के रूप में 'अणुचिन्ताओ' पद का प्रयोग मौलिक है जो स्वाध्याय में परिगणित अनुप्रेक्षा (याद करना) से भिन्न ध्यान का आलम्बन बनने की योग्यता को दर्शाने का प्रयास प्रतीत होता है।

शुक्ल ध्यान धर्म ध्यान से सूक्ष्मतर है, ध्याता शुक्ल ध्यान द्वारा सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है, समस्त कर्म क्षय कर देता है।¹⁰⁸ शुक्ल ध्यान एगत्त (एकत्व) के साथ पुहुत्त (पृथक्त्व) और एक विषय पर बिना विचार के स्थिर रहना है। जिसके 'सुहुमकिरिया' सूक्ष्म शरीर क्रिया शेष रहती है, वह भी अन्त में शुक्ल ध्यान द्वारा पूर्णतः समाप्त हो जाती है जिसे 'समुच्छिन्नकिरिये' या 'वोच्छिन्न किरिय' पदों द्वारा प्रकट किया है।¹⁰⁹

योग सूत्र में सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधि का क्रम धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान के निकट प्रतीत होता है। पातंजल योगसूत्र में सूक्ष्म-विषय-निर्वीज समाधि के लिए कथन किया है कि— 'तस्यापि निरोधे सर्वं निरोधान्निर्बीजः समाधिः' अर्थात् चित्तवृत्ति के विलीन होने पर शेष बचे सर्ववासना संस्कार के भी निरुद्ध से जाने पर वह संस्कारशून्य निर्बीज समाधि कहलाती है। योगसूत्र में निरूपित संप्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि के स्वरूप तथा भेद-प्रभेद की तुलना जैन दर्शन-सम्मत ध्यान के प्रकार, धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान से की जा सकती है जिनमें पारिभाषिक शब्दावली का साम्य भी दर्शनीय है।¹¹⁰

ध्यानशतक में क्रमशः आलम्बन, अनुप्रेक्षा और लक्षण (लिङ्ग) के क्रम से शुक्ल ध्यान का निरूपण किया गया है। शुक्ल ध्यान के चार आलम्बन इस प्रकार हैं—खंति (क्षमा), मद्दव (मार्दव-मृदुता), अज्जव (आर्जव-सरलता), मुत्ती (त्याग)। शुक्ल ध्यान के ये आलम्बन दस-समण-धम्म में से संगृहीत प्रतीत होते हैं।¹¹¹ स्थानाङ्ग सूत्र¹¹², तत्त्वार्थ सूत्र¹¹³ में खंति आदि का क्रम ध्यानशतक के समान ही है किन्तु खंति आदि आलम्बन भगवती सूत्र में 'लक्षण' के अन्तर्गत परिगणित हैं तथा 'विवेग' आदि 'लक्षण' वहाँ 'आलम्बन' के रूप में परिगणित हो गये हैं।¹¹⁴ महर्षि पतंजलि ने कहा कि सुखी प्राणियों के प्रति मैत्री, दुःखी प्राणियों पर करुणा, पुण्यात्माओं के प्रति मुदिता तथा अपुण्यशीलों के प्रति उपेक्षा की भावना से चित्त-प्रसाद (चित्त-निर्मल) होता है।¹¹⁵ यह ध्यान में सहायक होता है।

ध्यानशतक में शुक्ल ध्यान के चार लिङ्ग (लक्षण) इस प्रकार हैं—
1. अवह (अवध) 2. असंमोह 3. विवेग (विवेक) 4. विउसग (व्युत्सर्ग)।

आचाराङ्ग सूत्र में शुक्ल ध्यान के उक्त लक्षणों में से 'अव्वहित' खंति-मुक्ति के साथ में उपलब्ध है।¹¹⁶

ध्यानशतक में शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख करते हैं—
अवाय (सांसारिक दुःख अथवा दुष्कर्मों का आस्रव), असुह (संसार का अशुभ स्वरूप वाला होना), भवसंताणमणंतं (अनन्तवृत्तिता अर्थात् संसार परम्परा का अनन्त होना), वत्थूणं विपरिणामं (वस्तुओं का परिणामनशील स्वभाव)।¹¹⁷
ध्यान के लिए चित्त को सुभावित रखने में सहायक होने से अनुप्रेक्षा का महत्त्व है।¹¹⁸

प्राचीन जैन परम्परा के अनुसार 12 अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख समिति-गुप्ति आदि के वर्णन से परवर्ती है।

संस्थानविचय (धर्म ध्यान के अन्तिम प्रकार) के बाद अनुप्रेक्षा का वर्णन है जो संस्थानविचय से सम्बद्ध प्रतीत होता है, किन्तु सामान्यतया उसे सम्पूर्ण धर्म ध्यान के साथ सम्बद्ध किया जाता है, यह शोध का विषय है।

—डॉ. सुषमा सिंघवी

निदेशक, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय
क्षेत्रीय केन्द्र, जयपुर (राजस्थान)

सन्दर्भ सूची

1. ध्यानशतक, 1, आवश्यकनिर्युक्ति, भाग - 2, पृष्ठ 61
2. ध्यानशतक, (अन्तिम गाथा), Descriptive catalogue of the Government Collection of Manuscripts, No. 1055, 1056, Vol. xvii, pt. 3, p. 415-416, Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune, 1940
3. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग 4, पृष्ठ 1670
4. आवश्यकनिर्युक्ति, भाग-2, श्री भैरूलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई, विक्रम सम्वत्, पृष्ठ 61
5. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग-4, श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरीश्वर, श्री अभिधान राजेन्द्र-कार्यालय, रतलाम, सन् 1981, पृष्ठ 1666
6. जैन योग के सात ग्रन्थ (अनु.), मुनि दुलहराज, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, 1995, पृष्ठ 34
7. अभिधान राजेन्द्र कोश; भाग-4, पृष्ठ 1670
8. आवश्यकनिर्युक्ति, भाग-2, पृष्ठ-70
9. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग-4, पृष्ठ-1672
10. विशेषावश्यक भाष्य II, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, वि.सं. 2039, हेमचन्द्र कृत बृहद्वृत्ति, 3602-3603, पृष्ठ 677

11. पंचुत्तरेण गाहासएण ज्ञाणस्स यं समक्खायं।
जिणभद्रखमासमणेहिं कम्मविसोहीकरणं जइणो ।। ध्यानशतक, गाथा 106
12. गणधरवाद, (सम्पादक) दलसुख मालवणिया, सम्यज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, 1982, प्रस्तावना, पृष्ठ-47
13. उक्तं च भाष्यकारेण 'दोवारे विजयाइसु गयस्स तिण्णच्चुए, अहवं ताई। अइरेगं णरभवियं णाणाजीवाण सव्वद्धं ।। 1 ।।' आवश्यकनिर्युक्ति, भाग-1, पृष्ठ-5
14. 'दोवारे विजयाईसु गयस्स तिण्णच्चुए अहव ताई। अइरेगं नरभवियं, नाणा जीवाण सव्वद्धं ।। 436 ।।' विशेषावश्यक भाष्य, भाग-1, पृष्ठ-123
15. आवश्यकनिर्युक्ति, भाग-1, गाथा-734 पर वृत्ति, पृष्ठ-184
16. तं च महासेण वणोवलक्खियं.....' विशेषावश्यक भाष्य, गाथा-2089, पृष्ठ-432
17. 'खेतं मयमागासं सव्वदव्वावगाहणालिंगं...' जिनभद्रः विशेषावश्यक भाष्य, गाथा-2088, पृष्ठ-432
18. 'तत्र चादौ तावद्..... चाह भाष्यकारः— कथपवयणप्पणामो वोच्छं..... गुरुवएसाणुसारेणं ।। 1 ।।' विशेषावश्यक भाष्य, भाग-1, गाथा-1, पृष्ठ-1
19. विशेषावश्यक भाष्य, भाग-1, पृष्ठ-151
20. 'तच्चेदम्— अभिणिबोहियनणां..... ।। 1 ।।' आवश्यकनिर्युक्ति, भाग-1, गाथा-1, पृष्ठ-5
21. आवश्यकनिर्युक्ति, भाग-1, पृष्ठ-81
22. ध्यानशतक, (सम्पादक) बालचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 1976, सम्पादकीय, पृष्ठ-11
23. वही, प्रस्तावना, पृष्ठ-2
24. वही, प्रस्तावना, पृष्ठ-2-3
25. युज् समाधौ (दिवादिगणीय-युज्यते आदि), पाणिनीय धातुपाठ, 4/68
26. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/8
27. अंगुत्तरनिकाय, 2/12; अभिधर्मकोश, 5/40
28. तत्त्वार्थसूत्र, 6/12
29. युजिर् योगे (रूधादिगणीय-युक्ति, युङ्क्ते आदि), पाणिनीय धातुपाठ, 7/7
30. आवश्यकनिर्युक्ति II, गाथा, 1232, पृष्ठ 41 एवं गाथा 1250, पृष्ठ 50; 'दसविहे समणधम्मे समणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं' आवश्यक सूत्र, पृष्ठ-54
31. 'ज्ञाणजोगं समाहट्टु कार्यं बोसेज्ज सव्वसो', सूत्रकृताङ्ग, 1/8/27
32. 'इह जीवियं अणियमित्ता पब्भट्टा समाहिजोगेहिं', उत्तराध्ययन, 8/14
33. 'तवं चिमं संजमजोगयं च सज्झायजोगं च सया अहिट्टुए', दशवैकालिक, 8/61
34. 'अज्झप्पज्ञाणजोगेहिं पसत्थदमसासने', उत्तराध्ययन, 19/93
35. 'सामणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं', आवश्यक सूत्र, 15, 35, पृष्ठ-54
36. 'बत्तीसं जोगसंगहा प. तं.— आलोयण.....य मरणंते, बत्तीस जोगसंगहा ।।' समवायाङ्ग, 32/1 से 5, अंगपविट्टु सुत्ताणि, I श्रुतस्कन्ध, पृष्ठ-373-374

37. आलोचना निरवलावे, आवईसु दढधम्मया।
 अणिस्सि ओवहाणे य सिक्खा णिप्पडिकम्मया।। 1274।।
 अण्णायया अलोहे य, तित्तिक्खा अज्जवे सुई।
 सम्मदिट्ठी समाही य आयारे विणओवए।।1275।।
 धिई मई य संवेगे, पणिही सुविहि संवरे।
 अत्तदोसोवसंहारो, सव्वकामविरत्तिया।।1276।।
 पच्चक्खाणा विउस्सगे, अप्पमाए लवालवे।
 ज्ञाणसंवरजोगे य, उद्दए मारणंतिए।।1277।।
 संगणं च परिण्णां, पायच्छित्तकरणे इय।
 आराहणा य मरणंते, बत्तीसं जोगसंगहा।।1278।।
 आवश्यकनिर्युक्ति II, पृष्ठ 116

38. ध्यानशतक, गाथा, 3,36-37, 74-77, 85

39. वही, 11

40. वही, 30-34

41. वही, 43

42. वही, 45-63

43. वही, 70

44. वही, 71-72

45. वही, 32

46. पातञ्जल योगसूत्र, I/12

47. ध्यानशतक, गाथा, 2,77

48. नथमल टाटिया (1986), 'जैन परम्परा में योग', जैन मेडिटेशन चित्त समाधि: जैन योग, जैन विश्वभारती, लाडरू, पृष्ठ-11

49. 'अपरिकर्मितमनसोऽसूयादिमतः..... यस्य चित्तस्य व्युत्थितस्येदं परिकर्म इत्यर्थः। मैत्रीकरुणेत्यादि प्रसादनान्तं सूत्रम्', तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र, I/33

50. 'एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते।' व्यासभाष्य, योगसूत्र, I/33

51. 'प्रतिक्रमामि चतुर्भिर्ध्यानैः..... अयं ध्यानसमासार्थः। व्यासार्थस्तु ध्यानशतकादवसेयः।' आवश्यकनिर्युक्ति II, पृष्ठ 61

52. ध्यानशतक, गाथा, 107

53. अंगपणिट्ट सुत्ताणि I, पृष्ठ 1-109

54. आवश्यकचूर्ण (आवश्यकनिर्युक्ति पर), आर.के. श्वेताम्बर संस्थान, रतलाम, 1928

55. B. Bhatt (2005): (a) Jainism 'vis-a-vis Brahmanism', Jabu-jyoti, Shresthi Kasturbhai Lalbhai Smarak Nidhi, Shardaben Chimabhai Educational Research Centre, Ahmedabad, 2005, P. II-35; (b) Twelve anuvekhas in early Jainism, Festschrift Klaus Bruhn; st. II (1994), Verlag fur Orientalistische Fach Publikationen Reinbek, 1994, P. 171-185

56. ध्यानशतक, सम्पा. बालचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 1976, प्रस्तावना, पृष्ठ 2 से 73
57. 'तओ षं समणस्स भगवओ महावीरस्स..... सुक्कज्झाणंतरियाए वट्टमाणस्स णिष्वाणे.....केवलवरणाणदंसणे समुप्पण्णे ।। 1028 ।।' अङ्गपविट्ट सुत्ताणि, (सम्पा.) डोशी एवं चण्डालिया, अ.भा. सा. जैन संस्कृति रक्षक, सैलाना, 1979, पृष्ठ 103
58. (क) 'धम्म-सुक्काइं ज्ञाणाइं, ज्ञाणं तं तु बुहा वए.....' उत्तराध्ययन, 30.35.
(ख) 'से किं तं ज्ञाणे?.....सुक्कज्झाणे.....पण्णत्ते....' औपपातिकसूत्र, श्लोक 30; भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति, 25.7.237 एवं 246; स्थानाङ्गसूत्र, 4.1.308
(ग) 'सुक्कज्झाणोवगए विहरइ', ज्ञाताधर्मकथा, अध्ययन 6/14, अंगपविट्ट-सुत्ताणि III, पृष्ठ 1137
59. (क) '....शुक्ल ध्यानपरायणः.... शरीररमुत्सुज्य संन्यासेनैव देहत्यागं करोति, स कृतकृत्यो भवति.....' नारदपरिव्राजक उपनिषद्, 3.86
कल्याण, उपनिषद् अङ्क, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1949, पृष्ठ 742
(ख) '....शुक्ल ध्यानपरायणाः....संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंस.. ' जाबाल उपनिषद्, 6
(ग) '....शुक्ल ध्यानपरायणः....संन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति ते परमहंसा.. ' भिक्षुक उपनिषद्
(घ) '....शुक्ल ध्यानपरायणः....संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंस परिव्राजको भवति.....' परमहंस परिव्राजक उपनिषद्
(ङ) '..... शून्यागार..... वृक्षमूलकुलालशाला..... गिरिकुहरकोटर..... स्थंडिलेषु संन्यासेन देहत्यागं करोति.....' याज्ञवल्क्य उपनिषद्, 1
60. 'वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढकम्मिंधणं.. । जोईसरं सरण्णं..' ध्यानशतक, 1
61. 'धूमहीणो जहा अग्गी, खीयइ से निरिंधणे । एवं कम्माणि खीयंति मोहणीज्जे खयं गये ।।' दशवैकालिक सूत्र, 5.121
62. मैत्रायणी उपनिषद्, 4.6
63. 'जहा दड्ढाण बीयाणं न जायंति पुणंकुरा ।
कम्मबीएसु दड्ढेसु न जायंति भवंकुरा ।। दशाश्रुतस्कन्ध, 5.123
64. भगवद्गीता, 4.19
65. आचाराङ्ग चूर्णि, (सम्पा.) ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, 1941
66. (क) 'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' योगसूत्र IV/7
(ख) 'कम्मं....कण्हं.....सुक्कं....कण्हसुक्कं....अकण्हं...असुक्कं अंगुत्तर निकाय, II/4/ 233
67. मज्झिम निकाय, 63.1.3.7
68. 'सति च सम्पज्जञ्च' दीघनिकाय, III/352
69. 'सतो भिक्खवे, भिक्खू विहरेद्य सम्पजानो.....कथञ्च.....सतो होंति? इध,.....काये कायानुपस्सी विहरति.....वेदनासु वेदानुपस्सी.....चित्तेचित्ता-नुपस्सी.....धम्मे धम्मनुपस्सी, विहरति.....एवं खो भिक्खू सतो होंति ।' दीघनिकाय, II/160
70. (क) 'भिक्खू सव्वसो.....सज्जावेदयितनरोधं.....आसवणपरिक्खीणा होंति'... मज्झिम निकाय 1.271, पातज्जल योगसूत्र, बुद्धवाणी के परिप्रेक्ष्य में, पृष्ठ-66
(ख) 'तुवंबुद्धो..... । तुवं अनुसये छेत्वा, तिण्णो तारसिंमं पजं ।। मज्झिमनिकाय, II/400

71. (क) 'दुक्खखन्धस्स निरोधो.....। अविज्जा त्वेव असेसविराग-निरोधा.... विज्जाणनिरोधा नामरूपनिरोधो....'
- (ख) 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', योगसूत्र, I/2;
'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः', योगसूत्र, I/12;
'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधात्रिबीजसमाधिः योगसूत्र, I/51
- (ग) 'जं थिरमज्झवसाणं तं ज्ञाणं, ध्यानशतक, 1
72. (क) योहि.....इमे चत्तारो सतिपट्टाने एवं भावेय्य सत्त्ववस्सानि.... धम्मो अज्जा..'
सतिपट्टानभावनानिसंसो, महासतिपट्टानसुत्त, श्रीचन्द्रप्रभ ध्यान निलयम, जोधपुर, 2000, पृष्ठ 39-40
- (ख) 'रागस्स पहाणाय असुभा भावेतब्बा,
दोसस्स पहाणाय मेत्ता भावेतब्बा,
मोहस्स पहाणाय पज्जा भावेतब्बा।' अंगुत्तर निकाय, I/6/107
- (ग) 'वितकं बाधने प्रतिपक्षभावनम्', योगसूत्र, II/33
- (घ) 'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः', वही-II/10
- (ङ) 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः', वही-I/32
73. 'जं थिरमज्झवसाणं तं ज्ञाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता। ध्यानशतक, 2
74. 'चित्तावत्थाणमेगवत्थुमि। छउमत्थाणं ज्ञाणं जोग निरोहो जिणाणं तु।।' ध्यानशतक, 3
75. 'देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे।
देहोवहिवुस्सगं निस्संगो सव्वहा कुणइ।।' ध्यानशतक, 93
76. 'किंच ज्ञानस्य यथा कर्मक्षय हेतुत्वमस्ति तथा योगस्यापि, विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिराद्।।' योग वार्तिक, योगसूत्र 1/1, पातंजल योगदर्शनम्, पृष्ठ 8
77. 1. रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेयवो भणिया।
अट्टमि य ते तिण्णिवि तो तं संसार-तरुवीयं।।' ध्यानशतक, 13
2. 'परमार्थतस्तु रागद्वेषमोहाः संसारहेतवः।...' तत्त्वार्थभाष्यटीका, IX/30
78. आचाराङ्गसूत्र, 2.16.1082, अङ्ग-पविट्ट-सुत्ताणि I, पृष्ठ 109
79. 'तओ णं समणे.....पंचमहव्वयाइं सभावणाइं.....आणाए आराहिता... भवइ', आचाराङ्ग सूत्र 2.16, 1033 से 1082; वही, पृष्ठ 104 से 109
80. आचाराङ्गसूत्र, 2.16.1087, वही, पृष्ठ 109
81. आचाराङ्ग, 1.5.5.313, अङ्ग पविट्ट सुत्ताणि I, पृष्ठ 20
82. 'विउ णए धम्मपयं अणुत्तरं विणीयतण्हस्स मुणिसस ज्जायओ। समाहियस्स ऽग्गिसिहा व तेयसा, तवो य पण्णा य जसो य वड्ढइ।'1087 आचाराङ्ग, 2.16.1087, अङ्ग पविट्ट सुत्ताणि I, पृष्ठ 109
83. आयतचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स.....पसइ पुढोवि सवंताइं पंडिए पडिलेहाए' आचाराङ्ग 1.2.5, 132 से 135, अङ्ग पविट्टसुत्ताणि I, पृष्ठ 11

84. ध्यानशतक, गाथा, 88
85. (क) '.....णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो.....' ध्यानशतक, 65
(ख) 'सुक्कज्झाणसुभावियचित्तो चिंतेइ ज्ञाणविरमेऽवि।
णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपन्नो।।' ध्यानशतक, 87
86. मूलाचार, अ. 8, गाथा 74
87. मूलाराधना, गाथा 1715 से 1875
88. बारसाणुवेक्खा, गाथा 1 से 91
89. औपपातिकसूत्र, 30; भगवतीसूत्र, 25.7.803-804; स्थानाङ्गसूत्र, 4.1.247; आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ 84-87, ध्यानशतक, गाथा 65, 87-88
90. महानिशीथ, 3.xiii
91. तत्त्वार्थसूत्र, 9/7
92. 'वन्नेइ भावणाओ बारसिमो बारसंगविकु.....'
मरण समाधि, गाथा 570-639 (चतुःशरणादिमरणसमाध्यन्तं प्रकीर्णकदशकं, श्रीआगमोदय समिति, मुम्बई, 1927, पृष्ठ-135
93. (क) भगवती सूत्र, 9.33.383; ज्ञाताधर्मकथा, 1.1.28; दशवैकालिक, 10.21; उत्तराध्ययन, 19.12, 15, 44 (संसार-भावना)
(ख) तण्डुलवेयालिय, गाथा 84, 93-94 आदि में अशुचि का निरूपण है।
94. 'अनुप्रेक्षा' ग्रन्थार्थयोरेव मनसाभ्यासः भाष्यतत्त्वार्थसूत्र, 9/25; 'स्वाध्याय' उत्तराध्ययन, 29.18-23; आचाराङ्ग, II/1.1.4.348; औपपातिक, 30 IV; उत्तराध्ययन 30.34, भगवतीसूत्र, 25.7801, स्थानाङ्ग, 5.3.541; मूलाचार 5.196; तत्त्वार्थसूत्र, 9/25
95. 'स्वाध्यायद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमासते।
स्वाध्याययोगसंपत्या परमात्मा प्रकाशते।।' योगसूत्र I/28 पर व्यासभाष्य, पातञ्जल योगसूत्र, पृष्ठ 84
96. 'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' योगसूत्र, II/1
97. 'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सायं च.....। तपश्च.....। स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको.....।' तैत्तिरीय उपनिषद्, I/9;
'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्', तैत्तिरीय उपनिषद्, I/11
98. ध्यानशतक, गाथा, 28-29
99. आवश्यकचूर्णि गाथा, 2; ध्यानशतक, गाथा-6
100. ध्यानशतक, गाथा 26
101. भगवद्गीता, 7/16
102. भगवद्गीता, 16/8-18
103. 'भवकारणमदृरुद्दाई' ध्यानशतक, गाथा 5;
'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि.... यान्त्यधमां गतिम्।' भगवद्गीता, 16/20
104. ध्यानशतक, गाथा, 45 से 54
105. ध्यानशतक, गाथा 66

106. ध्यानशतक, गाथा 68
107. ध्यानशतक, गाथा 42
108. ध्यानशतक, गाथा 78 से 83; आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ 86
109. '.....आलंबणमेगतवितक्कमवियारं.....' ध्यानशतक, गाथा 81; '..... सुहुमकिरियाऽनियट्टिं तइयं तणुकायकिरियस्स', वही, 82; '....वोच्छि-त्रकिरिय', ध्यानशतक, गाथा, 83
110. 'वितर्कविचारानन्दास्मितानुरूपगमात् सम्प्रज्ञातः' योगसूत्र, I/17; 'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णां सवितर्कां समापत्तिः' योगसूत्र, I/42; 'स्मृति-परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का', योगसूत्र, I/43; 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता', योगसूत्र, I/44
111. आवश्यकनिर्मुक्ति प्रतिक्रमण, दस-समण-धम्म, गाथा 1064, पृष्ठ 5
112. स्थानाङ्गसूत्र, 4.1.247
113. तत्त्वार्थसूत्र, 9.39
114. भगवतीसूत्र, 25.7.803-804
115. योगसूत्र, I/33
116. आचाराङ्गसूत्र II/5/770-771
117. ध्यानशतक, गाथा 88-89
118. (क) 'ज्ञाणोवरमे वि मुणी' ध्यानशतक, गाथा 66;
 (ख) 'ध्यानोपरमकालभाविन्योऽनित्यत्वादि....' हरिभद्रटीका, ध्यानशतक, 29;
 (ग) 'अणुप्पेहा ति धर्मध्यानस्य पश्चात् प्रेक्षणानि' अभयदेव, भगवतीसूत्र, पृष्ठ 926;
 (घ) अभयदेव, स्थानाङ्गसूत्र, 4.1.247, पृष्ठ 190

ध्यानशतक

(जिनभद्र क्षमाश्रमण)

◆ श्री जिनभद्र क्षमाश्रमण ध्यानाध्ययन ग्रन्थ के प्रारम्भ में नमस्कारात्मक मंगलाचरण करते हैं—

वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढकम्मिंधण पणमिऊणं ।

जोईसरं सरणं झाणज्झयणं पवक्खामि ।।।।।

जिनहोंने शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को दग्धकर दिया है ऐसे शरणदाता, श्रेष्ठ योगी वीर भगवान् को नमस्कार करके ध्यानाध्ययन का प्रवचन करूँगा ।

व्याख्या :

ग्रन्थ के मंगलाचरण में महावीर के तीन विशेषणों के द्वारा ग्रन्थकार ने ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान-फल का निरूपण किया है। महावीर योगीश्वर होने से साधकों के ध्यान के विषय ध्येय है। जो निरन्तर ध्यानरत रहता है, योगीश्वर गुरु की शरण में चला गया हो, कर्म क्षय का जिज्ञासु हो, वह ध्याता है। शुक्ल ध्यान से कर्म नष्ट करना श्रेष्ठ ध्यान है। कर्म क्षय होने से वीर बन जाना या केवलज्ञान की प्राप्ति ध्यान का फल है। ध्यान की प्रक्रिया और उपलब्धि के संकेत भी मंगलाचरण में दिए हैं। वीर के तीन विशेषणों में 'शुक्ल ध्यान से कर्मेन्धन विनाशक' विशेषण द्वारा ध्यान की प्रक्रिया का; 'योगीश्वर' द्वारा राग-द्वेष विजेता दुःखरहित ध्याता के स्वरूप का तथा 'शरण्य' के द्वारा योगी की विभूति का प्रतिपादन किया है।

जो ध्यान शुचिता अर्थात् पवित्रता प्रदान करने वाला है वह शुक्ल ध्यान है। शुक्ल ध्यान शोक का निवारण करता है। ग्रन्थकार ने शुक्लता या शुचिता या शुद्धि के तीन उपाय बताए हैं— (1) भेद अथवा विदारण :— जैसे जल से धोने

पर वस्त्र का मैल दूर होकर वस्त्र शुद्ध हो जाता है तथैव ध्यान के द्वारा भेदविज्ञान विधि से कर्म मैल धुलकर आत्मा स्वभाव की शुद्धि को प्राप्त कर लेता है।

(2) शोषण—जिस प्रकार सूर्य की धूप से कीचड़ के जल का शोषण करके (जल को सुखाकर) जमीन शुद्ध हो जाती है उसी प्रकार ध्यान के द्वारा राग-द्वेष रूपी आसक्ति के रस को सुखा देने से कर्मों की फलदायी शक्ति का क्षय होने से कर्म निष्प्रभावी हो जाते हैं और आत्मा शुद्ध स्व-स्वरूप में स्थिर हो जाती है।

(3) ताप—जिस प्रकार सुवर्ण में अन्य धातुओं के मिश्रण रूप कलंक को अग्नि के तीव्र ताप द्वारा अलग किया जाकर सुवर्ण को शुद्ध किया जाता है उसी प्रकार शुक्ल ध्यान में तप के ताप से समस्त कर्म भस्म हो जाते हैं और शुद्धात्म स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है। इसीलिये ग्रन्थकार ने कहा है कि शुक्लध्यान रूपी अग्नि से कर्मन्धन क्षय होना ही सच्चा योग है।

अविरति-प्रमाद-कषाय तथा मन-वचन-काय के योगों से कर्मों का आस्रव और बंध होता है। शुक्ल ध्यान की अवस्था में मिथ्यादर्शन आदि का अभाव होने से कर्मों का संवर और निर्जरापूर्वक क्षय होता है। इसी से केवलज्ञान प्रकट होता है।

◆ ध्यान के चार भेदों का निरूपण करने से पूर्व ध्यान का लक्षण करने हेतु ग्रन्थकार विवेचन करते हैं—

जं थिरमज्झवसाणं तं ज्ञाणं जं चलं तयं चित्तं ।

तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥ 2 ॥

स्थिर अध्यवसान ध्यान है। अस्थिर अध्यवसान को चित्त कहा जाता है भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता (चिन्तन) चित्त को स्थिर करने में सहायक है।

व्याख्या :

ग्रन्थकार श्री जिनभद्र क्षमाश्रमण के अनुसार चिन्ता (चिन्तन), अनुप्रेक्षा और भावना—ये तीनों ध्यानाभ्यास की भूमिका में अत्यन्त सहायक हैं, क्योंकि ये अशुभ प्रवृत्तियों को रोकने में समर्थ हैं तथा ध्यान की पात्रता उत्पन्न करने में सहायक हैं। निश्चय दृष्टि से विभिन्न प्रकार की प्रेक्षा (श्वास प्रेक्षा आदि) को ही ध्यान मान लेना भूल है। ध्यान की दिशा में अनुप्रेक्षा और भावना (यदि शुभ में एकाग्रतास्वरूप हो तो) सहायक भले हो सकती है पर चंचल चित्त का ही रूप होने से इसे ध्यान नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को लक्ष्य में रखकर आसन-प्राणायाम आदि पूर्वक किया जाने वाला

चिन्तन ग्रन्थकार की दृष्टि में चिन्ता की कोटि में ही रखा जाएगा, उसे 'ध्यान' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। 'ध्यान' चित्त का पूर्णतया स्थिर हो जाना है।

महर्षि पतञ्जलि एकाग्र और निरुद्ध चित्त को योग मानते हैं इसीलिये चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग अथवा समाधि कहते हैं— 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगसूत्र, 1/2)। इसे द्रष्टा की स्वरूप स्थिति भी कहते हैं— 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योगसूत्र, 1/3)। यह योग (एकाग्रता-निरोध) स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाला होने से शुभ या श्रेष्ठ योग है। ध्यानशतक में स्थिर अध्यवसान, चाहे शुभ हो या अशुभ, ध्यान कहा गया है इसीलिये आर्त व रौद्र स्थिति को भी ध्यान कहा और धर्म तथा शुक्ल ध्यान तो ध्यान हैं ही। जैन दर्शन में चित्त की एकाग्रता मात्र को मोक्ष में उपयोगी नहीं माना है। यदि एकाग्रता इन्द्रिय विषयों तथा दुष्प्रवृत्ति में है तो वह अशुभ आर्त और रौद्र ध्यान तो है पर हेय है। निज स्वरूप में चित्त की एकाग्रता या स्थिर अध्यवसान शुभ ध्यान हैं, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान शुभ ध्यान होने से उपादेय माने गये हैं।

◆ छद्मस्थ तथा जिनेश्वरों के ध्यान की विशेषता बताते हैं:—

अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुंमि ।

छउमत्थाणं ज्ञाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥३॥

अन्तर्मुहूर्त काल तक एक वस्तु (ध्येय) में चित्त का स्थिर होना—यह छद्मस्थ का ध्यान है और मन-वचन-काया की प्रवृत्ति रूप योगों का निरोध होना—यह केवलज्ञानियों का ध्यान है।

व्याख्या :

ज्ञानावरण आदि घाति कर्मों से आत्मा आच्छादित होती है, अतः कर्म छद्म कहलाते हैं। कर्म जिनमें स्थित हैं वे संसारी प्राणी छद्मस्थ कहलाते हैं। छद्मस्थ व्यक्ति अन्तर्मुहूर्त काल (48 मिनिट) तक ही किसी एक विषय में अपने चित्त को स्थिर रख सकता है, इससे अधिक नहीं। अन्तर्मुहूर्त के बाद छद्मस्थ की ध्यान-धारा भिन्न पर्याय में परिवर्तित हो जाती है। वह अपने मन-वचन-काया के व्यापार या प्रवृत्ति रूपी योग का पूर्ण निरोध नहीं कर सकता है। त्रिविध-करण-प्रवृत्ति से आत्यन्तिक सम्बन्ध-विच्छेद संसारी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है, किन्तु चतुर्दशगुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी के स्थिर-अध्यवसान स्वरूप वाले ध्यान में चित्त का भी विलय हो जाने से मन-वचन-काया की प्रवृत्ति रूप योगों का आत्यन्तिक निरोध (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है।

◆ छद्मस्थ के ध्यान प्रवाह का निरूपण करते हैं:—

अंतोमुहुत्तपरओ चिंता ज्ञाणंतरं व होज्जाहि।

सुचिरंपि होज्ज बहुवत्थुसंकमे ज्ञाणसंताणो ॥ 4 ॥

व्याख्या :

छद्मस्थ के ध्यान में अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् कोई भावना, अनुप्रेक्षा या चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है। अनेक वस्तुओं का आलम्बन लेने पर ध्यान का प्रवाह लम्बे समय तक भी हो सकता है। छद्मस्थ के ध्यान में अन्तर्मुहूर्त पश्चात् छद्मस्थ जीवों के चिन्ता अथवा ध्यानान्तर प्रारम्भ हो जाता है। छद्मस्थ का मन बहुत वस्तुओं (ध्येयों) में संक्रमित होते रहने से ध्यान का क्रम अर्थात् चिन्तन का प्रवाह बहुत समय तक चलता रहता है। ध्यानान्तर तभी होता है जब उसके पश्चात् ध्यान होने वाला हो।

किसी एक विषय पर स्थिर हुआ ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक रहता है तत्पश्चात् चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है, जिससे भूत एवं भविष्यत्काल से सम्बन्धित विविध विषयों या विचारों में भ्रमण करता है। यह विचारधारा बहुत समय तक चलती रहती है अर्थात् चिन्तन निरन्तर बहुत समय तक चल सकता है, परन्तु किसी एक ध्येय विषय या वस्तु में चित्त 48 मिनट से अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता।

◆ ग्रन्थ के प्रारम्भ में ध्यान के भेद और फल का निर्देश करते हैं:—

अट्टं रुहं धम्मं सुक्कं ज्ञाणाइ तत्थ अंताइं।

निव्वाणसाहणाइं

भवकारणमट्ट-रुहाइं ॥ 5 ॥

आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान हैं। जिनमें से आर्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं तथा अन्तिम दो ध्यान धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान निर्वाण में सहायक है।

व्याख्या :

ध्यान चार प्रकार का होता है— आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। ध्यान के उपर्युक्त चार प्रकारों में आर्त ध्यान एवं रौद्र ध्यान अशुभ ध्यान हैं। 'ऋते भवम् आर्तम्' इस निरुक्ति के अनुसार ऋत अर्थात् दुःख। अतः दुःख का कारण आर्त ध्यान है। अनादिकालीन वासना से उत्पन्न जीव की भोग प्रवृत्ति से आर्त ध्यान होता है। आगे वर्णित आर्त ध्यान के भेद-प्रभेद के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि इष्ट-वियोग और अनिष्ट-योग होने पर अर्थात् इच्छित की प्राप्ति न

होने पर और अनिच्छित की प्राप्ति होने पर उनके प्रति द्वेष के निरन्तर बने रहने से जो आकुलता/व्याकुलता होती रहती है वह आर्त ध्यान है।

हिंसा आदि क्रूरतायुक्त प्रवृत्ति में एकाग्रता रौद्र ध्यान है। विषय सुख में रत जीव आसक्तिवश हिंसा-झूठ-चोरी करता हुआ स्व तथा पर के हित-अहित के विवेक को खो देता है और क्रूर हो जाता है तो वह रौद्र ध्यान में रत कहलाता है।

जीव आर्त ध्यान तथा रौद्र ध्यान के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। मिथ्यात्व, अविरक्ति और कषाय अन्त करना तब तक सम्भव नहीं होता जब तक आर्त और रौद्र ध्यान की स्थिति रहती है। आर्त और रौद्र ध्यान से कर्मों का आस्रव होता है, अतः इनके प्रतिपक्षी धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को निर्वाण में साधनभूत कहा है। निर्वाण की उपलब्धि संवर एवं निर्जरापूर्वक होती है तथा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान से कर्म के आवरण का क्षय होता है, अतः धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को शुभ ध्यान कहा जाता है। श्रुत और चारित्र अर्थात् संयम धर्म से युक्त अध्यवसान धर्म ध्यान है तथा कर्म कलुष एवं शोक को नष्ट करने वाले ध्यान को शुक्ल ध्यान कहा जाता है। शुक्ल ध्यान से कषाय के उपरत हो जाने पर वीतरागता प्रकट होती है। इसीलिये धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को ग्रन्थकार ने निर्वाण में सहायक माना है।

आर्त ध्यान

◆ आर्त ध्यान के प्रमुख चार प्रकार माने जाते हैं। उनके निरूपणार्थ ग्रन्थकार प्रथम अनिष्ट संयोग आर्त ध्यान का निरूपण करते हैं:—

अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स।

धणियं विओगच्चिन्तणमसंपओगाणुसरणं च ॥६॥

व्याख्या :

द्वेष से मलिन होकर अमनोज्ञ शब्द आदि इन्द्रिय विषयों के वियोग के लिए अत्यन्त चिन्ता करना तथा उनकी पुनः प्राप्ति न हो इसका निरन्तर अनुस्मरण करना आर्त ध्यान का प्रथम प्रकार है। अमनोज्ञ-अवाञ्छित शब्दादि विषयों और वस्तुओं से पिण्ड छुड़ाने रूपी अत्यधिक चिन्ता और पुनः उनका संयोग नहीं होवे, ऐसी अत्यधिक लालसा रूपी असम्प्रयोग-अनुसरण प्रथम प्रकार का आर्त ध्यान है जो द्वेष से ग्रस्त व्यक्ति को होता है।

कान को अप्रिय शब्द सुनने को मिलने पर, आँख को अप्रिय रूप देखने को मिलने पर, नासिका को दुर्गन्ध सूँघने को मिलने पर, जीभ को बुरे स्वाद वाली

वस्तुएँ खाने को मिलने पर तथा त्वचा को अप्रिय लगने वाला स्पर्श होने पर अप्रिय लगने वाला शब्द, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श का संयोग होने पर द्वेष भाव से उनको दूर करने के लिए चिन्तित होना तथा भविष्य में कभी पुनः संयोग न हो जाय, इस चिन्ता में डूबे रहना प्रथम प्रकार का आर्त ध्यान है।

द्वेष से मलिनता को प्राप्त हुए प्राणी के अमनोज्ञ (अनिष्ट) शब्दादिरूप पाँचों इन्द्रिय के विषयों और उनकी आधारभूत सामग्री के विषय में जो उनके वियोग की अत्यधिक चिन्ता होती है तथा भविष्य में उनका फिर से संयोग न हो, ऐसा अध्यवसान होना अमनोज्ञ आर्त ध्यान माना गया है।

‘विषीदन्ति एतेषु सक्ताः प्राणिनः इति विषयाः’ इस निरुक्ति के अनुसार जिनमें आसक्त होकर प्राणी दुःख को प्राप्त होते हैं, उन्हें विषय कहा जाता है। अथवा जो यथायोग्य श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य शब्द, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि हैं उन्हें विषय जानना चाहिये। उन अनिष्ट, अप्रिय विषयों और उनकी आधारभूत वस्तुओं का यदि वर्तमान में संयोग है तो उनके वियोग के सम्बन्ध में सतत यह विचार करना कि किस प्रकार से इनका मुझसे वियोग होगा तथा उनका वियोग हो जाने पर भविष्य में कभी उनका फिर से संयोग न हो, इस प्रकार का चिन्तन करना तथा इसके अतिरिक्त भूतकाल में यदि उनका वियोग हुआ है अथवा संयोग ही नहीं हुआ है तो उसे बहुत अच्छा मानना, वह अनिष्ट संयोग अमनोज्ञ आर्त-ध्यान है।

◆ आर्त ध्यान के द्वितीय भेद आतुर चिन्ता आर्त ध्यान का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं:—

तह सूल-सीसरोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं ।

तदसंपओगचिंता तप्पडियाराउलमणस्स ॥ ७ ॥

रोग को दूर करने के लिए आकुल मन वाले का शूल, मस्तक के रोगादि की वेदना उत्पन्न होने पर उनके वियोग के लिए चिन्तन करना, उनके प्रतिकार (चिकित्सा) के लिए आकुल-व्याकुल होना तथा वे पुनः प्राप्त न हों, इस चिन्तन में लीन होना, यह दूसरे प्रकार का आर्त ध्यान है।

व्याख्या :

शूल व शिरोरोग आदि की पीड़ा के होने पर तथा प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर उसके प्रतिकार के लिये व्याकुल मन का दृढ़ अध्यवसान (निरन्तर चिन्तन) होता है तथा उक्त वेदना के किसी प्रकार से नष्ट हो जाने पर

भविष्य में पुनः उसका संयोग न हो, इस चिन्ता में मन दृढ़ होता है। उसे द्वितीय आतुर-चिन्ता अथवा व्याधि वेदनाजनित आर्त ध्यान समझना चाहिये।

♦ तृतीय इष्ट-वियोग आर्त ध्यान का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं:—

इष्टाणं विसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स ।
अवियोगऽज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो य ॥ १८ ॥

राग में आसक्त व्यक्ति का इष्ट विषय प्राप्ति आदि अनुकूल अनुभव होने पर इन विषय-भोगों का वियोग न हो जाय, ऐसा अध्यवसान होना तथा इनके संयोग को बनाये रखने की अभिलाषा करना—यह तीसरे प्रकार का आर्त ध्यान है।

व्याख्या :

रागयुक्त (आसक्त) प्राणी के अभीष्ट शब्दादि इन्द्रिय विषयों, उनकी आधारभूत वस्तुओं और अभीष्ट वेदना के विषय में जो उनके अवियोग के लिये—सदा ऐसे ही बने रहने के लिये—अध्यवसान अथवा चित्त का प्रणिधान होता है तथा यदि उनका संयोग नहीं है तो भविष्य में उनका संयोग किस प्रकार से हो, इस प्रकार की जो अभिलाषा बनी रहती है—यह तृतीय इष्ट संयोग आर्त ध्यान का लक्षण है।

♦ चतुर्थ निदान चिन्तन आर्त ध्यान का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

देविंद-चक्कवडित्तणाइं गुण-रिद्धिपत्थणमईयं ।
अहमं नियाणचिंतणमण्णाणाणुगयमच्चंतं ॥ १९ ॥

देवेन्द्र और चक्रवर्ती आदि के गुण (रूपादिक) तथा ऋद्धि की प्रार्थना (याचना) करना निदान है। इसका चिन्तन करना अधम है और यह अत्यन्त अज्ञान से उत्पन्न होता है।

व्याख्या :

पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी आगामी काम-भोगों की प्राप्ति के लिए संकल्प करना निदान आर्त ध्यान है। अत्यन्त अज्ञान से अनुगत होने से उसे अधम (निकृष्ट) समझना चाहिए। श्रवण इन्द्रिय (कान) से राग-रागिनी, चलचित्रों के संगीत के गायन और वाद्य-यन्त्रों के मंजुल और मनोहर राग सुनने की भावना करना और उसमें आनन्द मानना; चक्षु इन्द्रिय (आँख) से नृत्य, बाग-बगीची, आतिशबाजी, महल, प्रासाद, मंडप आदि की सजावट, रोशनी आदि देखने की भावना करना और उसमें आनन्द मानना; घ्राण-इन्द्रिय (नाक) से इत्र-पुष्प आदि

सुगंधित पदार्थों को सूँघने की भावना करना और उसमें आनन्द मानना; रसन-इन्द्रिय (जीभ) से घट्टस भोजन करने की तथा अभक्ष्य-भक्षण करने की भावना करना और उसमें आनन्द मानना; इसी प्रकार शयनासन, वस्त्र, आभूषण, स्त्री आदि के विलासमय भोग भोगने की इच्छा करना और उसमें आनन्द मानना चतुर्थ भोगेच्छा नामक आर्त ध्यान है। इसी प्रकार यह भावना करना कि इनका संयोग सदा ऐसा ही बना रहे तथा मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ कि मुझे इष्ट, प्रिय, सुखमय सर्वसामग्री प्राप्त हुई है, इनमें खुशी मनाना भोगेच्छा आर्त ध्यान है। किसी को भोग करते देख मैं भी ऐसे मौज-मजा करूँ, आनन्द का उपभोग करूँ जिससे मेरा जन्म सफल हो जाये। जहाँ तक ऐसा सुख मुझे नहीं मिले, वहाँ तक मैं अधन्य हूँ, अपुण्य हूँ आदि-आदि विचार भी भोगेच्छा आर्त ध्यान ही हैं। भोगेच्छा अज्ञानजन्य है, ऐसा दृढ़ अध्यवसान करने से आर्त ध्यान का त्याग सम्भव है।

तप, संयम, प्रत्याख्यान आदि धर्म क्रियाओं का नियाणा करना, फल माँगना, राज्य और ऐन्द्रिक सुख की वांछा करना, अपनी क्रिया के प्रभाव से आशीर्वाद देना, अन्य स्व-जन, मित्र आदि को धनशाली या सुखी करने की अभिलाषा करना, अपने स्व-जन, मित्र या पड़ोसी आदि की भोग-सामग्री को देख अपने-आप को अन्य की अपेक्षा दरिद्र मानना—मन की इस प्रकार की उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ, अन्तःकरण के विचार भोगेच्छा आर्त ध्यान हैं। अज्ञान ही अच्छा लगने में कारण है, यह निश्चय कर हेय आर्त ध्यान को छोड़ देना चाहिये।

◆ आर्त ध्यान का परिणाम प्रस्तुत करते हुए कहते हैं :—

एयं चउव्विहं राग-दोस-मोहं कियस्स जीवस्स ।

अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं ॥ १० ॥

राग-द्वेष-मोह से प्रभावित जीव के उपर्युक्त वर्णित चार प्रकार का आर्त ध्यान होता है। आर्त ध्यान तिर्यञ्च गति का मूल कारण होने से संसार को बढ़ाने वाला होता है।

व्याख्या :

जिस क्रिया में राग, द्वेष व मोह होता है उसी क्रिया का प्रभाव (कार्मण शरीर पर) अंकित होता है और वह प्रभाव आर्त ध्यान के रूप में प्रकट होता है। राग-द्वेष-मोह ही कर्मबन्ध एवं संसारवृद्धि के कारण हैं। अतः आर्त ध्यान संसारवृद्धि का कारण है। प्रकारान्तर से कहें तो जीव के अन्तःकरण में भोगेच्छा की पूर्ति से

राग व मोह तथा अपूर्ति से द्वेष अंकित होता है जिससे आर्त ध्यान भोगेच्छा का द्योतक है। भोगेच्छा की पूर्ति संसार की वस्तुओं से होती है। अतः भोगी या आर्त ध्यानी संसार को पसन्द करता है, उसे भोग भोगने के लिए सदा संसार में रहना है। भोग व भोग्य सामग्री ही उसका जीवन है। वह इन्हें बनाये रखने में व बढ़ाने में लगा रहता है। अतः राग, द्वेष, मोहग्रस्त आर्त ध्यान या भोगमय जीवन संसार बढ़ाने वाला है। कहा भी है :—‘भोगी भमई संसारे’ अर्थात् भोगी संसार में भ्रमण करता है। संसार में तिर्यच गति के अतिरिक्त अन्य गतियों का काल सीमित है। अतः अधिक काल तक कोई जीव अन्य गतियों में नहीं रह सकता, केवल तिर्यच गति में ही जीव अधिक व अनन्तकाल तक रह सकता है। रौद्रत्व व क्रूरता के भाव नरकत्व अर्थात् नरकगति के सूचक हैं; त्याग भाव मनुष्यता अर्थात् मनुष्यगति का सूचक है; मृदुता, ऋजुता, मैत्री आदि दिव्य गुण देवत्व अर्थात् देवगति के सूचक हैं; भोग भोगने रूप पशुता तिर्यचत्व की सूचक है। अतः भोगी या आर्त ध्यानी तिर्यच गति में जाने का पात्र होता है।

◆ मुनि का ध्यान समता वाला होता है। यह निरूपण करते हुए कहते हैं:—

मज्झत्थस्स उ मुणिणो सकम्मपरिणामजणियमेयंति ।

वत्थुस्सभावचिंतणपरस्स समं (म्मं) सहंतस्स ॥११॥

मध्यस्थ भाव रखने वाले, ‘अपने कर्म के फलस्वरूप ये रोगादि अनिष्ट संयोग रूप दुःख उत्पन्न हुए हैं’—इस प्रकार वस्तु स्वभाव के चिन्तन में तत्पर, सम्यक् प्रकार (राग-द्वेषरहित-समभाव) से रोगादि सहन करने वाले मुनि का ध्यान समता वाला होता है, आर्त ध्यान नहीं होता है।

व्याख्या :

मुनि इष्ट-अनिष्ट के संयोग-वियोग के रूप में प्रकट हुई सुखद-दुःखद परिस्थिति को कर्म के उदयजनित मानता है और कर्म का उदय निर्जरित होने के लिए ही होता है—इस वस्तु स्वभाव को जानकर कर्मांदय से उत्पन्न हुई वेदना के प्रति मुनि मध्यस्थ (तटस्थ) भाव रखते हुए समत्वभावपूर्वक सहन करता है, राग-द्वेष नहीं करता है जिससे मुनि के आर्त ध्यान नहीं होता है।

◆ संयमी मुनि के आर्त ध्यान नहीं होता। यह प्रस्तुत करते हैं :—

कुणओ व पसत्थालंबणस्स पडियारमप्पसावज्जं ।

तव-संजमपडियारं च सेवओ धम्ममणिघाणं ॥१२॥

अमनोज्ञ संयोग में प्रशस्त (शुभ) अध्यवसान का आलम्बन लेने वाले,

रोगादि में निर्दोष-अल्पसावद्यकारी प्रतिकार का आलम्बन लेने वाले, इष्टवियोग में तप-संयम प्रतिकार का आलम्बन करने वाले तथा अनिदानपूर्वक धर्म का सेवन करने वाले मुनि के आर्त ध्यान नहीं होता है।

व्याख्या :

साधक मुनि भूख, प्यास, रोग, अनिष्ट संयोग आदि से उत्पन्न होने वाली वेदना व संताप को प्रथम तो समभाव से सहन करता है तथा शरीर को अपना निकटवर्ती पड़ोसी मानकर शारीरिक हित की दृष्टि से प्रतिकार या उपचार करता है। उस उपचार में किसी प्रकार के सुख पाने की इच्छा रूप निदान नहीं होने से वह उपचार-प्रतिकार निष्पाप व अत्यल्प पाप वाला होता है और दूसरा, इस उपचार में भोक्ता भाव नहीं होने से आर्त ध्यान नहीं होता है। समत्वभाव होने से वह संवर और तप रूप होता है अर्थात् वह धर्म ध्यान होता है।

◆ आर्त ध्यान को संसार का कारण बताते हुए कहते हैं :—

रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेयवो भणिया।

अट्टुमि य ते तिण्णिवि तो तं संसार-तरुवीयं ॥ 13 ॥

राग, द्वेष और मोह—ये संसार के हेतु कहे गये हैं। ये तीनों आर्त ध्यान में विद्यमान रहते हैं इसीलिये आर्त ध्यान को संसार रूपी वृक्ष का बीज कहा गया है।

व्याख्या :

पूर्व गाथा दस में आर्त ध्यान को संसारवर्धक कहा गया है और संसारवर्धन का मूल कारण राग-द्वेष और मोह हैं। ये तीनों आर्त ध्यान से होते हैं अतः आर्त ध्यान को संसार रूपी वृक्ष का बीज कहा है।

◆ आर्त ध्यानी की लेश्याएँ और उनके परिणाम का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं:—

कावोय-नील-कालालेस्साओ णाइसंक्किलिद्धाओ।

अट्टुज्जाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥ 14 ॥

आर्त ध्यानी के कर्म परिणाम से उत्पन्न हुई कापोत, नील और कृष्ण लेश्याएँ रौद्र ध्यान की अपेक्षा अति संक्लिष्ट परिणामवाली नहीं होती हैं।

व्याख्या :

आर्त ध्यान को प्राप्त व्यक्ति के कापोत, नील और कृष्ण लेश्याएँ अल्प संक्लेशकारी होती हैं, अतिसंक्लिष्ट नहीं होती हैं। ये लेश्याएँ कर्म के उदय के

फलस्वरूप होती हैं, तीव्र नहीं होती हैं। यहाँ इन लेश्याओं को अतिसंक्लिष्ट नहीं कहने का कारण यह है कि ये तीनों अशुभ लेश्याएँ रौद्र ध्यानी के होती हैं। रौद्र ध्यान अतिक्रूरता आदि पापों वाला होने से रौद्र ध्यानी के ये लेश्याएँ अति तीव्र संक्लिष्ट परिणाम वाली होती हैं तथा नरक गति में ले जाने वाली होती हैं।

♦ आर्त ध्यान के लक्षण निरूपित करते हुए कहते हैं कि :—

तस्सऽक्कंदण-सोयण-परिदेवण-ताडणाइं लिंगाइं ।

इट्ठाऽणिट्ठविओगाऽविओग-वियणानिमित्ताइं ।। 15 ।।

इष्ट के वियोग, अनिष्ट के अवियोग अर्थात् संयोग, वेदना के कारण से आर्त ध्यानी के आक्रन्दन, शोचन, परिदेवन और ताड़न आदि चिह्न होते हैं।

व्याख्या :

उववाई सूत्र में भी आर्त ध्यान के चार लक्षण बताए गये हैं :—

अट्टस्स णं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तंजहा —

1. कंदणया, 2. सोयणया, 3. तिप्पणया, 4. विलवणया ।

अर्थात् आर्त ध्यान के चार लक्षण हैं :—1. क्रंदन—रुदन करना, 2. शोक—चिन्ता करना, 3. आँखों से आँसू गिराना, 4. विलाप करना ।

ध्यानशतक में किञ्चित् शब्दभेद के साथ इन्हें प्रस्तुत किया है। 1. अनिष्ट का संयोग, 2. इष्ट का वियोग, 3. रोग आदि दुःख की प्राप्ति, 4. भोग आदि सुख की अप्राप्ति—इन चार प्रकार के कारणों में से किसी भी एक कारण के उपस्थित होने पर भोगी जीवों में चार अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं—

1. **अक्कंदण**—आक्रंदन करना, जोर-जोर से चिल्लाना, रुदन करना जैसे कि—हाय रे ! मेरे इष्ट संयोगों का नाश क्यों हो गया ? और अनिष्ट संयोग की प्राप्ति क्यों हुई ? इत्यादि विचार उत्पन्न कर रुदन करना ।
2. **सोयण**—शोचन, सोच अर्थात् चिन्ता करना, उदासीन होकर बैठना, पागल के समान व्यवहार करना आदि । अश्रुपूर्ण आँखों से दीनता दिखाना ।
3. **परिदेवण**—परिदेवन, विलाप करना, दुःखी होना—हाय रे ! जुल्म-हुआ, महान् अनर्थ हुआ', इत्यादि विलाप करना ।
4. **ताडण**—अंग पछाड़ना, छाती पीटना आदि ।

सामान्यतया हर बात में शंका करना, शोक, भय, प्रमाद, असावधानी, क्लेश, चिंता, भ्रम, भ्रांति, विषय सेवन की उत्कंठा, हर्ष-विषाद करना, अंग में जड़ता, शिथिलता, चित्त में खेद, वस्तु में मूर्च्छा इत्यादि चिह्न आर्त ध्यानी में पाये जाते हैं।

◆ आर्त ध्यानी हीनभावना से ग्रस्त होता है:—

निंदइ य नियकयाइं पसंसइ सविम्हओ विभूर्इओ ।

पत्थेइ तासु रज्जइ तयज्जणपरायणो होइ ॥ 16 ॥

आर्त ध्यान में व्यक्ति अपने कृत्यों की निन्दा करता है। दूसरों की सम्पदाओं की साश्चर्य प्रशंसा करता है, उनकी अभिलाषा करता है। प्राप्त होने पर उनमें आसक्त और उनको पाने के लिए सतत चेष्टा करता रहता है।

व्याख्या :

जो भोग-सामग्री स्वयं के प्रयत्न से प्राप्त हुई है उसकी निन्दा करता है अर्थात् उससे असन्तुष्ट रहता है। दूसरों के भोग-सामग्री आदि वैभव को देखकर उसकी प्रशंसा करता है, उसे महत्त्व देता है और वैसी ही विशेष भोग-सामग्री प्राप्त करने की प्रार्थना (याचना-कामना) करता है और उसे प्राप्त करने के लिए तत्पर रहता है। इन्द्रियों के विषयभोग में गृद्ध रहता है। भोगों के परिणाम की क्षणभंगुरता, नश्वरता, पराधीनता, जड़ता, चिन्ता आदि वास्तविकताओं से विमुख रहता है। वीतराग मार्ग व भोगों के त्याग से अपने को बचाता है या यों कहें—जो सदा विषय भोग भोगने में लिप्त व गृद्ध एवं भोग-सामग्री प्राप्त करने में रत रहता है, भोग को ही जीवन मानता है, वह भी आर्त ध्यानी है।

◆ आर्त ध्यान की धर्मविमुखता का निरूपण करते हैं:—

सहाइविसयगिद्धो सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो ।

जिणमयमणवेक्खंतो वड्डइ अट्टंमि झाणंमि ॥ 17 ॥

जो व्यक्ति शब्दादि विषयों से गृद्ध है। सद्धर्म से पराड्मुख है, प्रमादी है और जिनमत की उपेक्षा करता हुआ रहता है (वीतराग के प्रवचन से निरपेक्ष है) वह आर्त ध्यान में प्रवृत्त होता है।

व्याख्या :

आर्त ध्यानी शब्दादि विषयों, जैसे संगीत, सौन्दर्य, सुगन्ध, स्वाद, स्पर्श-सुख आदि में उसी प्रकार लुब्ध रहता है जैसे गिद्ध गृहित पदार्थों पर टूट पड़ता है।

आर्त ध्यान में व्यक्ति सद्धर्म से मुँह फेर लेता है। प्रमादी रहता है, कुल-जाति-रूप-धन-ज्ञान आदि के नशे में रहता है। जिन-वचनों की उपेक्षा करता हुआ जीवन बिताता है।

आर्त ध्यानी को अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की अत्यन्त उत्कंठा—आशा-तृष्णा रहती है। रात-दिन लक्ष्य उधर ही लगा रहता है, जिससे दूसरे कामों में भी विविध रीति से हानि पहुँचती है। वह धर्म-क्रिया, संयम, तप आदि करके भी वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त कर सकता है।

आर्त ध्यानी प्राप्त हुए भोग-सुखों में अत्यन्त आसक्त रहता है। देवगति में ऐसे सुखों को अनन्त बार भोग लिया है फिर भी समझता है कि ऐसी वस्तु मुझे कहीं भी नहीं मिली, ऐसा मान कर उस वस्तु को क्षण-भर के लिये भी नहीं छोड़ना चाहता है। इतनी महती आसक्ति के योग से इस भव में भी शूल, सूजाक, गरमी, चित्त-भ्रम आदि विविध रोगों से पीड़ित होता है, औषधि एवं पथ्य में लगा रहता है, प्राप्त भोग्य पदार्थों को भी भोग नहीं सकता है, घर में उपस्थित सामग्री को देख-देख कर रोता है। 'कब इस रोग से मुक्त होऊँ और कब इन पदार्थों को भोगूँ' ऐसी इच्छा बनी ही रहती है।

आर्त ध्यानी को जिस वस्तु की प्राप्ति हुई है, उस वस्तु से अधिक किसी दूसरे के पास देखकर, सुनकर, उस वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा होती है। इस प्रकार वस्तुओं को प्राप्त करने व उन्हें भोगने की अभिलाषा अधिकाधिक बढ़ती जाती है, और इसी में उसका जन्म पूरा हो जाता है। वृद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो भी इच्छा-तृष्णा तृप्त नहीं होती है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा' अर्थात् हम जीर्ण—वृद्ध हो गये हैं, परन्तु तृष्णा—इच्छाएँ जीर्ण नहीं हुईं। इस सृष्टि में संख्यातीत पदार्थ हैं। उन सब की प्राप्ति एक ही समय में और एक ही साथ किसी को भी नहीं हो सकती है। तृष्णा की शान्ति के बिना दुःख नहीं मिट सकता है। प्रत्येक परिस्थिति में किसी-न-किसी प्रकार का अभाव रहता ही है। अतः आर्त ध्यान नितान्त दुःख का ही कारण है। ऐसा समझ कर, सोच को त्यागने का प्रयत्न कर सुखी होना चाहिये।

यह आर्त ध्यान संसारी जीवों के साथ अनादिकाल से लगा हुआ है, यह सदा ही उत्पन्न होता रहता है। प्रारम्भ में यह रमणीय प्रतीत होता है परन्तु बाद में अपथ्य आहार जैसा भयंकर दुःख देता है।

◆ आर्त ध्यान हेय है यह निरूपण करते हैं:—

तदविरय-देसविरया-पमायपरसंजयाणुगं झाणं ।

सव्वप्पमायमूलं वज्जेयव्वं जइजणेणं ॥ 18 ॥

व्याख्या :

यह आर्त ध्यान अविरत (मिथ्यादृष्टि), देशविरत (श्रावक) और प्रमत्त संयत (छूटे गुणस्थानवर्ती मुनि) के होता है। यह सभी प्रमादों का मूल है। मुनि-जनों (तथा श्रावकों) को इसका वर्जन करना चाहिए। गुणस्थान की दृष्टि से असंयमी अविरत (मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि), कथंचित् संयमी देशविरत तथा प्रमादयुक्त संयमी (प्रमत्त संयत) द्वारा किये जाने वाले आर्त ध्यान समस्त प्रमादों की मूल जड़ (कारण) हैं, अतः यतिजन (साध्य को पाने का प्रयत्न करने वाले साधकजन) को आर्त ध्यान का परित्याग करना चाहिए।

मद (अभिमान), विषय, कषाय, आलस्य व विकथा रूप अकर्तव्य में रत होना प्रमाद है। ये सभी प्रमाद विषय-भोगों की आसक्ति से उत्पन्न होते हैं। भोगासक्ति ही आर्त ध्यान है। भोगासक्ति न्यूनाधिक रूप से असंयमी, देश (आंशिक) संयमी एवं प्रमत्त-संयत में होती है। अतः जो साधक दोषों एवं दुःखों से मुक्ति चाहते हैं उन्हें आर्त ध्यान का परित्याग कर देना चाहिए।

रौद्र ध्यान

रौद्र ध्यान के चार भेदों में से सर्वप्रथम हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान का निरूपण करते हैं:—

सत्तवह-वेह-बंधण-डहणंऽकण-मारणाइपणिहाणं ।

अइकोहग्गहघत्थं निग्घिणमणसोऽहमविवागं ॥ 19 ॥

निर्दयी व्यक्ति का प्राणियों के वेध, वेध, बन्धन, दहन, अंकन और मारने आदि का क्रूर अध्यवसान होना तथा अनिष्ट, विपाक वाले उत्कट क्रोध के ग्रह से ग्रस्त होना रौद्र ध्यान का 'हिंसानुबन्धी' नामक प्रथम प्रकार है।

व्याख्या :

निर्दय मन वाले व्यक्ति का ध्यान अत्यन्त क्रोध कषाय रूपी ग्रह से ग्रस्त (आवेशित), प्राणियों के वध-वेध-बन्धन-दहन-अंकन-मारण आदि का प्रणिधान (दृढ़ अध्यवसान) करने वाला, जघन्य परिणाम (बुरे फल) वाला होता है। यह हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान है।

ग्रन्थकार ने रौद्र ध्यान के भेदों द्वारा ही उसे परिभाषित किया है। सामान्यतया क्रूरतायुक्त चिन्तन व कार्य रौद्र ध्यान हैं। विषय सुख में गूढ़ व्यक्ति कर्तव्य-अकर्तव्य का भान भूलकर क्रूर हृदय वाला होकर स्व-पर अहितकर कार्य करता है वह रौद्र ध्यान है जो हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, अदत्तानुबन्धी, परिग्रहानुबन्धी—चार प्रकार का है।

जिसका चित्त रौद्र ध्यान से व्याप्त रहता है, वह दूसरे की विपत्ति में हर्षित रहता है, उसकी क्षति के प्रति उपेक्षित एवं दया-विहीन रहता है तथा इसके लिये पश्चात्ताप भी नहीं करता है। वह पापाचरण करके हर्षित होता है। जो क्रूर आशय—परिणाम वाला, नीच विचारों वाला प्राणी होता है, उसे रुद्र कहा जाता है। जैसे मदिरापान करने से मनुष्य की बुद्धि विकल हो जाती है और वह विशेष रूप से क्रूर कर्मों में ही आनन्द मानता है, वैसे ही प्रत्येक संसारी जीव अनादिकाल से कर्म रूप मदिरा के नशे में पागल बना हुआ कुकर्मों को करने में ही आनन्द मानता है। उन कुकर्मों को करते समय जीव के अन्तःकरण में जो क्रूर विचार आते हैं, उन्हें ही तत्त्वज्ञ पुरुषों ने 'रौद्र भयानक ध्यान' कहा है।

अतिशय क्रोधरूप पिशाच के वशीभूत होकर निर्दय, क्रूर अन्तःकरण वाले जीव का प्राणियों के वध, वेध, बन्धन, दहन, अंकन और मारण आदि का संकल्प करना, उक्त कार्यों को न करते हुए भी उनको करने का जो दृढ़ विचार होता है, यह हिंसानुबन्धी नामक प्रथम रौद्र ध्यान है। इसका विपाक अधम (निकृष्ट) है, उसके परिणास्वरूप नरकादि दुर्गति प्राप्त होती है।

चाबुक आदि से ताड़ित करना, इसका नाम वध है। कील आदि के द्वारा नासिका आदि के वेधने को वेध कहा जाता है। रस्सी आदि से बाँधकर रखना, यह बन्धन कहलाता है। आग आदि से जलाने को दहन कहते हैं। तपी हुई लोहे की शलाका आदि से दागने (चिह्नित करने) का नाम अंकन है। पीटना तथा प्राणान्त करना मारण है।

छेदन, भेदन, ताड़न, बन्धन, प्रहार, दमन आदि प्रवृत्ति करना, इन कामों में अनुराग रखना अथवा इन कामों को देखकर दया नहीं लाना—यह सब हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान है।

दुःख किसी को भी प्रिय नहीं है। अनाथ, असहाय, निर्बल, पराधीन, निराधार और असमर्थ जीव, दीन और दुःखी हो जाते हैं। ऐसे दयनीय, असमर्थ जीवों को स्वार्थ से अथवा बिना स्वार्थ से दुःख देना, दुःख से पीड़ित को देखकर हर्ष मानना, यह सब हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान है।

किसी भी जीव को स्वयं अपने हाथ से, अथवा दूसरे के हाथ से प्राणरहित करते, टुकड़े-टुकड़े करते देखकर, लोहे की शृंखला—बेड़ियों में बाँधते, रस्सी आदि से बाँधते देखकर, कोठरी, तलघर, कारागृह आदि में कैद करते देखकर, कान, नाक, पूँछ, सींग, हाथ, पाँव, चमड़ी, नख आदि किसी भी अंगोपांग का छेदन-भेदन करते देखकर, कत्लखाने में जीवों का वध होता देखकर एवं उनका करुणापूर्ण आक्रंदन सुनकर, टुकड़े होने पर उनको तड़पते देखकर आदि अनेक प्रकार से जीवों को दुःख देते देखकर या उनका वध होते देखकर आनन्द मानना; 'बहुत अच्छा हुआ, इसे मारना ही चाहिये था, बंधन में डालना ही चाहिये था, इसे फाँसी—शूली देना ही चाहिये था; बड़ा जुल्मी था, बचता तो गजब कर डालता, मर गया तो अच्छा ही हुआ' आदि चिन्तन करना, बोलना व इसमें हर्षित होना भी हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान है।

◆ मृषानुबन्धी रौद्र ध्यान का निरूपण करते हैं—

पिसुणासब्भासब्भय - भूयघायाइवयणपणिहाणं ।

मायाविणोऽइसंधणपरस्स पच्छन्नपावस्स ॥ 20 ॥

मायावी, दूसरे को ठगने में प्रवृत्त तथा अपना पाप छिपाने के लिए तत्पर जीव के पिशुन—अनिष्ट सूचक वचन, असभ्य वचन, असत्य वचन तथा प्राणीघात करने वाले वचनों में प्रवृत्त न होने पर भी उनके प्रति दृढ़ अध्यवसाय का होना रौद्र ध्यान का 'मृषानुबन्धी' नामक द्वितीय प्रकार है।

व्याख्या :

मायाचारी व परवंचना (दूसरों के ठगने) में तत्पर, प्रच्छन्न (अदृश्य) पाप युक्त अन्तःकरण वाले जीव के पिशुन वचन, असभ्य वचन, असद्भूत वचन और भूतघात करने वाले वचनों में प्रवृत्त न होने पर भी जो उनके प्रति दृढ़ अध्यवसाय होता है, वह मृषानुबन्धी रौद्र ध्यान है।

मैं असत्य और वाणी की चतुराई से लोगों को मोहित कर उनके पास से सुन्दर कन्या, रत्न, धन, धान्य, गृह-घर आदि ग्रहण कर लूँगा और मैं अपने जीवन को सुख से चलाऊँगा इत्यादि अनेक प्रकार के असत्य विचारों का उत्पन्न होना ही मृषानुबन्धी रौद्र ध्यान है।

पुराने वस्त्रों को रंग आदि के प्रयोग से नवीन बताकर बेचना; कोई गुप्त धन, आभूषण आदि अमानत रूप से रखा गया हो तो उसको दबा लेना; झूठी गवाही देना; झूठे कागजों के आधार से दूसरे के धन, मकान आदि का अपहरण करना

और प्रसन्न होना; व्यापारिक अथवा अन्य कामों में धोखेबाजी कर एवं प्रपंच फैलाकर दूसरे को ठगने का विचार करना और उसमें प्रसन्न होना भी मृषानुबंधी रौद्र ध्यान है।

वकील का व्यवसाय कर अपनी बौद्धिक निपुणता से सत्य को झूठ और झूठ को सत्य कर अपने वादी को विजयी बनाना, निरपराध प्रतिवादियों को हराकर उन्हें भयंकर दुःखी कर देना और प्रसन्न होना; चिकित्सक का व्यवसाय कर रोगी के साधारण व तुच्छ रोग को बढ़ा-चढ़ा कर उसे भयभीत कर देना और उससे अपना स्वार्थ सिद्ध करना; झूठे दस्तावेज बनाकर दूसरों का माल हड़प लेना, झूठे विज्ञापन देना, हानिकारक वस्तुओं को लाभकारी बताकर बेचना; सम्मान, संपत्ति, भेंट, पूजा, सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिये मिथ्या चमत्कार आदि दिखाकर अपने धर्म के मायाजाल में भक्तों को फँसाना; चुनावों में मतदाता को झूठे आश्वासन व प्रलोभन देना आदि भी मृषानुबंधी रौद्र ध्यान हैं।

◆ स्तेयानुबंधी रौद्र ध्यान का निरूपण करते हैं:—

तह तिक्कोह-लोहाउलस्स भूओवघायणमणज्जं ।

परदव्वहरणचित्तं

परलोयावायनिरवेक्खं ।। 21 ।।

तीव्र क्रोध और लोभ में आकुल होकर प्राणियों का उपहनन, अनार्य आचरण और दूसरे की वस्तु का अपहरण करने का चिन्तन करना तथा पारलौकिक अपायों—नरक गमन आदि से निरपेक्ष रहना रौद्र ध्यान का 'स्तेयानुबंधी' नामक तृतीय प्रकार है।

व्याख्या :

इसी प्रकार तीव्र क्रोध और लोभ से आकुल व्यक्ति का ध्यान प्राणियों की हिंसा के भाव से अनार्य अर्थात् निन्दनीय होता है; दूसरों के द्रव्य को हरण करने में रत चित्त वाला होता है; परलोक में होने वाले अपाय (नीचगति की प्राप्ति आदि) से निरपेक्ष होता है अर्थात् नीचगति की परवाह नहीं करता। यह अदत्तानुबंधी रौद्र ध्यान है।

चोरी करने की सदा चिन्ता करना, चोरी करके अतिहर्ष मनाना, अन्य से चोरी कराना, चोरी से लाभ की प्राप्ति पर खुश होना, चोरी के काम में कला-कौशल बताने वाले की प्रशंसा करना इत्यादि विचार स्तेयानुबंधी रौद्र ध्यान हैं, जो अतिनिन्दनीय हैं।

बोल में, मोल में, तोल में, माप में, छाप में, जवाब में ठगाई चलाकर, जहाँ तक हो सके, वहाँ तक दूसरों को ठगने, लूटने में कोई कसर नहीं रखना। ग्राहक को विश्वास में लेने के लिये गाय की, बच्चे की, भगवान् की सौगंध खा जाना। इष्ट लाभ होने पर प्रसन्न होना। अच्छा माल बतलाकर खोटा माल देना। अच्छे में बुरा माल मिलाकर देना। हिसाब में, ब्याज में, गिरवी में अनेक प्रकार की अपहरण की क्रियाएँ करना। अपनी धूर्तता को बुद्धिमानी समझकर हर्षित होना, ये सभी चौर्यानुबंधी रौद्र ध्यान हैं। चोर, चोरी करके वस्तु लाया हो उसे सस्ते भाव से लेकर हर्षित होना, चोर को सहायता देना, उससे चोरी करवाना और वह माल स्वयं लेकर आनन्द अनुभव करना इत्यादि धन हरण के सब कार्य अदत्तादानानुबंधी रौद्र ध्यान हैं।

◆ विषयसंरक्षणानुबंधी या परिग्रहानुबंधी रौद्र ध्यान का निरूपण करते हैं:-

सद्वाइविसयसाहणधणसारक्खणपरायणमणिट्ठं ।

सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं ॥२२॥

तीव्र क्रोध और लोभ से आकुल व्यक्ति का चित्त (ध्यान/योग) शब्दादि विषयों की प्राप्ति के साधन, धन की रक्षा में संलग्न रहना, अनिष्ट चिन्तन में रत रहना, सभी के प्रति शंकालु होना, दूसरों का घात करने के (विचार वाले) कषायों से आकुल रहना। यह रौद्र ध्यान का परिग्रहानुबंधी अथवा विषयसंरक्षणानुबंधी नामक चतुर्थ प्रकार है।

व्याख्या :

रौद्र (क्रूर) चित्त होकर विविध प्रकार से आरम्भ-परिग्रह की रक्षा के लिये प्रयत्न करना, यह खो न जाये, नष्ट न हो जाये, इसके लिये चिंतित व भयभीत रहना विषयसंरक्षण रौद्र ध्यान कहा है।

द्रव्य को तिजोरियों में, लॉकर में रखूँ, जिससे अग्नि, चोर आदि हानि नहीं पहुँचा सकें। मितव्ययता बरतूँ, अल्प-व्यय में अपनी जीविका चलाऊँ, अल्प मूल्य की वस्तुएँ काम में लाऊँ आदि अनेक उपायों से द्रव्य का रक्षण करूँ इत्यादि विविध प्रकार की सम्पत्ति और सन्तति के रक्षण के लिए चिन्तित रहना विषयसंरक्षण रौद्र ध्यान है।

तात्पर्य यह है कि अपने तन, धन, रक्षण का और अन्य के लिये परिताप पैदा करने का ही चिन्तन चलना संरक्षणानुबंधी रौद्र (भयंकर) ध्यान है।

◆ रौद्र ध्यान निन्दनीय है, ऐसा निरूपण करते हैं:—

इय करण - कारणानुमद्विसयमणुचितणं चउब्भेयं ।

अविरय - देसासंजयजणमणसंसेवियमहणणं ।। 23 ।।

इस प्रकार रौद्र ध्यान के चार भेद हैं—हिंसानुबंधी, मृषानुबंधी, स्तेयानुबंधी, विषयसंरक्षणानुबंधी। इनको स्वयं करना, करवाना व इनका अनुमोदन करना तथा उसी विषय का पर्यालोचन करना रौद्र ध्यान है। यह अश्रेयस्कर ध्यान अविरत और देशसंयत (श्रावकों) के होता है।

व्याख्या :

पूर्वोक्त गाथा 18 में जो आर्त ध्यान के स्वामी कहे हैं वे ही रौद्र ध्यान के स्वामी भी हैं। अन्तर केवल इतना है कि आर्त ध्यान की सीमा स्वयं के विषय-भोग के सुखासक्ति से ही है। यह प्रमत्त साधु के भी हो सकता है जबकि रौद्र ध्यान किसी भी साधु के नहीं होता है। इसका कारण यह है कि रौद्र ध्यान का सम्बन्ध हिंसा, झूठ, चोरी आदि दुष्प्रवृत्तियों से है। साधु पंचमहाव्रतधारी होता है, उसके हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग होता है। अतः प्रमत्त संयत के रौद्र ध्यान नहीं होता है।

अविरत और देशसंयमी के आर्त ध्यान होता है और इनके रौद्र ध्यान भी होता है। अन्तर इतना ही है कि आर्त ध्यान में अतिसंक्लिष्ट विकार नहीं होते, परन्तु रौद्र ध्यानी के अतिसंक्लिष्ट विकार होते हैं।

◆ रौद्र ध्यान को नरकगति का कारण बताया गया है:—

एयं चउब्बिहं राग-दोष-मोहाउलस्स जीवस्स ।

रोहज्झाणं संसारवद्धणं नरयगाइमूलं ।। 24 ।।

राग, द्वेष और मोह से आकुल जीव के चार प्रकार का रौद्र ध्यान होता है। यह ध्यान संसार (जन्म-मरण) की वृद्धि करने वाला और नरकगति का मूल (बीज) है।

व्याख्या :

पूर्वगाथा 13 में कहा है कि राग, द्वेष और मोह जो संसार को बढ़ाने वाले हैं, ये आर्त ध्यानी के होते हैं और इस गाथा में इन्हीं को रौद्र ध्यानी के होना कहा है। जिज्ञासा होती है कि फिर दोनों में अन्तर क्या है ? तो कहना होगा कि आर्त ध्यानी के राग, द्वेष, मोह विषयों की भोगासक्ति से सम्बन्धित होते हैं। अतः

अतिसंक्लिष्ट नहीं होते हैं, इनसे दूसरे जीवों को कष्ट नहीं होता है जिससे वे नरकगति के कारण नहीं होकर तिर्यच गति के कारण होते हैं। जबकि रौद्र ध्यान में राग, द्वेष, मोह भयंकर आकुलता वाले एवं क्रूरता के परिणामवाले होते हैं। इनका सम्बन्ध दूसरे जीवों की हिंसा व कष्ट पहुँचाने से होता है। ये परिणाम भयंकर संघर्ष एवं द्वन्द्व के नारकीय दुःख देने वाले होते हैं, अर्थात् नरकगति के हेतु होते हैं।

◆ रौद्र ध्यान की लेश्याओं का निरूपण करते हुए कहते हैं:—

कावोय-नीला-काला लेसाओ तिब्बसंकलिट्टाओ।

रोहज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥25॥

रौद्र ध्यान के समय व्यक्ति की कापोत, नील व कृष्ण—ये तीनों लेश्याएँ अत्यन्त संक्लिष्ट होती हैं। ये लेश्याएँ कर्मपरिणामजनित होती हैं।

व्याख्या :

कापोत-नील व कृष्ण—ये तीनों अशुभ लेश्याएँ रौद्र ध्यान में होती हैं और ये ही तीनों अशुभ लेश्याएँ आर्त ध्यान में भी होती हैं। परन्तु आर्त ध्यान में तीव्र संक्लिष्ट परिणामवाली नहीं होती है जबकि रौद्र ध्यान में अतितीव्र संक्लिष्ट परिणामवाली होती है।

◆ रौद्र ध्यानी जीव के दोषों का निरूपण करते हुए कहते हैं:—

लिंगाइं तस्स उस्सण्ण-बहुल-नाणाविहाऽऽमरणदोसा।

तेसिं चिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तस्स ॥26॥

जो इस हिंसा, मृषावाद आदि (रौद्र ध्यान के चारों प्रकारों में) वाणी और शरीर से संलग्न है, उस रौद्र ध्यानी के उत्सन्न, बहुल, नानाविध, आमरण दोष—ये चार लक्षण (पहचान) हैं। रौद्र ध्यान के हिंसा आदि चार प्रकारों में से किसी एक में अत्यन्त आसक्ति से प्रवृत्त होना उत्सन्नदोष है। रौद्र ध्यान के सभी प्रकारों में प्रवृत्त होना बहुलदोष है। चमड़ी उधेड़ने, आँखें निकालने आदि क्रूर हिंसात्मक कार्यों में बार-बार प्रवृत्त होना नानाविधदोष है। हिंसा आदि करने में मृत्युपर्यन्त अनुताप न होना आमरण दोष है।

व्याख्या :

रौद्र ध्यान के चार लक्षण या पहचान हैं—

1. उत्सन्न-दोष—रौद्र ध्यानी विषय-भोग, वासना, कामना, राग, द्वेष आदि दोषों से खिन्न रहता है, उसे दूसरों को प्रसन्न देखकर भी प्रसन्नता नहीं

होती है। वह रौद्र ध्यान के हिंसा आदि चार प्रकारों में से किसी एक में अत्यन्त आसक्ति से प्रवृत्त होता है।

2. **बहुल दोष**—उसमें हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोषों की बहुलता आ जाती है।
3. **नानाविध दोष**—रौद्र ध्यानी हिंसा, झूठ आदि अनेक क्रूर व दुष्ट प्रवृत्तियों को अपने सुख का हेतु मानता है। उसमें भयंकर अज्ञान होता है, अतः वह नानाविध दोष करता है।
4. **आमरण दोष**—रौद्र ध्यानी के हिंसा, झूठ आदि पापों के सेवन में जीवन-बुद्धि होती है, अतः वह इन्हें मृत्युपर्यन्त बनाये रखना चाहता है, यह आमरण दोष है।

यह चार प्रकार का रौद्र ध्यान राग, द्वेष और मोह से व्याकुल जीव के होता है। वह सामान्यरूप से उसके संसार को बढ़ाने वाला है तथा विशेष रूप से वह नरकगति का मूल कारण है।

उक्त हिंसानुबंधी आदि चार प्रकार के रौद्र ध्यान में बाह्य करण (वचन और काय) उपभोगयुक्त होकर प्रवृत्त हुए रौद्र ध्यानी जीव के उत्सन्न दोष, बहुल दोष, नानाविध दोष और आमरण दोष होते हैं। ये उसके लिंग-ज्ञापक चिह्न हैं, जिनके द्वारा वह पहिचाना जाता है।

◆ रौद्र ध्यानी पर-पीड़ा में प्रसन्न होता है:—

परवसणं अहिन्दइ निरवेक्खो निदओ निरणुतावो ।

हरिसिज्जइ कयपावो रोहज्जाणोवगयचित्तो ॥२७॥

रौद्र ध्यान में संलग्न जीव दूसरों के दुःख का अभिनन्दन करता है, दूसरों को विपत्ति में देख अति प्रसन्न होता है। वह निरपेक्ष होता है, दूसरों को विनाश व दुःख से बचाने का प्रयत्न नहीं करता है। निर्दयी होता है, असंवेदनशील होता है और अनुताप रहित होता है। वह हिंसादि पाप करके हर्षित होता है। ये रौद्र ध्यान के लक्षण हैं।

व्याख्या :

रौद्र ध्यानी दूसरों को पीड़ित तो करता ही है, वह दूसरों को दुःखी देखकर प्रसन्न होता है, दुःखी के प्रति उसके हृदय में अनुकम्पा, दया व सहानुभूति उत्पन्न नहीं होती है, वह पापाचरण में प्रवृत्त रहता है।

धर्म्य ध्यान

◆ धर्म्य ध्यान का निरूपण करने हेतु ग्रन्थकार कहते हैं:—

झाणास्स भावणाओ देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं ।
आलंबणं कमं झाइयव्वयं जे य झायारो ॥28 ॥
तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंगं फलं च नाऊणं ।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं ॥29 ॥

शुभ ध्यान साधक मुनि को भावना, देश, काल तथा आसन विशेष, आलम्बन, क्रम, ध्येय, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल को जानकर धर्म ध्यान में तत्पर होना चाहिए। धर्म ध्यान का अभ्यास करने के पश्चात् उसे शुक्ल ध्यान में संलग्न होना चाहिए।

व्याख्या :

शुभ ध्यान में भावना 12 द्वार भूमिका का कार्य करते हैं। अतः शुभ ध्यान में स्थित होने के लिये भावना आदि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अतः क्रमशः उनका निरूपण किया गया है।

◆ भावना ध्यान में सहायक है:—

पुण्णकयभासो भावणाहि झाणास्स जोग्गयमुवेइ ।
ताओ य नाण-दंसण-चरित्त-वेरग्गानियताओ ॥30 ॥

जिसने भावनाओं के माध्यम से ध्यान का पहले अभ्यास किया है वह ध्यान करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। भावनाएँ चार प्रकार की हैं— 1. ज्ञान भावना, 2. दर्शन भावना, 3. चारित्र भावना और 4. वैराग्य भावना।

व्याख्या :

ध्यान करने से पूर्व भावनाओं का आदर (आचरण) करने रूप अभ्यास करना चाहिए। इससे ध्यान करने की योग्यता प्राप्त होती है। ये भावनाएँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र व वैराग्य रूप हैं। इनसे ज्ञानादि की प्राप्ति होती है अथवा जिसने भावनाओं के द्वारा पहले अभ्यास किया है वह पुरुष ही ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है और वे भावनाएँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य रूप होती हैं।

◆ ज्ञान भावना का निरूपण करते हैं:—

णाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणोधारेणं विसुद्धिं च ।
नाणगुणमुणियसारे तो झाइ सुनिच्चलमईओ ॥31 ॥

(योग्य ध्याता) ज्ञान का नित्य अभ्यास करने वाला, ज्ञान में मन को स्थिर करता है, (सूत्र और अर्थ ज्ञान से) मन की विशुद्धि करता है। तत्पश्चात् ज्ञान के उस महात्म्य से परमार्थ सार को जानने वाला वह सुनिश्चल मति (स्थिर बुद्धि) होकर ध्यान करता है।

व्याख्या :

जो मुनि ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करता है। इससे उसका मन विशुद्धि को प्राप्त करता है। ज्ञान गुण द्वारा ध्यानी मुनि सार तत्त्व को जाने जिससे बुद्धि निश्चल हो जाये और (बुद्धि के निश्चल हो जाने से) चित्त ध्यान में लग सके। अथवा जिसने ज्ञान का निरन्तर अभ्यास किया है वह (पुरुष) ही मनोनिग्रह और विशुद्धि को प्राप्त होता है। कारण कि जिसने ज्ञान गुण द्वारा सारभूत तत्त्व को जान लिया है वहीं निश्चलमति हो ध्यान करने में सक्षम होता है।

ज्ञानभावना का तात्पर्य है कि ज्ञान (श्रुतज्ञान) के विषय में निरन्तर किया गया अभ्यास मन के धारण को निश्चित करता है—उसे अशुभ व्यापार से रोककर स्थिर करता है तथा सूत्र और अर्थविषयक विशुद्धि को भी स्थिर करता है। इस प्रकार ज्ञान के द्वारा जिसने जीव और अजीव में रहने वाले गुणों एवं उनकी अविनाभावी पर्यायों के भी सार (यथार्थता) को जान लिया अथवा ज्ञान गुण के द्वारा जिसने विश्व के सार (यथार्थ स्वरूप) को जान लिया है अथवा परमार्थ को जान लिया वह अतिशय स्थिर बुद्धि होकर ध्यान करता है। अभिप्राय यह है कि ज्ञान के अभ्यास से ध्यान में मन की स्थिरता होती है, अतः ध्यान की सिद्धि के लिये ज्ञान का अभ्यास करना आवश्यक है।

◆ दर्शन भावना का निरूपण करते हैं:—

संकाइदोसरहिओ पसम-थेज्जाइगुणगणोवेओ ।

होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणंमि ॥३२॥

जो अपने को शंका आदि (कांक्षा-विचिकित्सा-परपाखण्ड प्रशंसा, पर-पाखण्ड संस्तव) दोषों से रहित; प्रशम (संवेग-निर्वेद-अनुकम्पा-आस्था) तथा स्थैर्य आदि गुणों से युक्त कर लेता है। वह (दृष्टि की समीचीनता के कारण) ध्यान में अश्रान्त चित्त वाला हो जाता है।

व्याख्या :

दर्शन भावना से जो शंका-कांक्षादि दोषों से रहित होकर प्रशम, स्वमत और परमत सम्बन्धी तत्त्वविषयक परिज्ञान से उत्पन्न प्रकृष्ट शम अथवा प्रशम एवं

जिन-शासन विषयक स्थिरता आदि गुणों के समूह से युक्त होता है, उसका मन दर्शनविशुद्धि के कारण ध्यान के विषय में मूढता (विपरीतता) को प्राप्त नहीं होता है, सम्मोह रहित हो जाता है।

◆ चारित्र भावना का निरूपण करते हैं:—

नवकम्पाणायणं पोरणविणिज्जरं सुभायाणं ।

चारित्तभावणाए ज्ञाणमयत्तेण य समेइ ॥३३॥

चारित्र भावना के द्वारा नवीन कर्मों के ग्रहण का अभाव, पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा, शुभ (पुण्य) कर्मों का ग्रहण और ध्यान; ये बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के ही प्राप्त होते हैं।

व्याख्या :

चारित्र भावना द्वारा नये कर्मों का आस्रव नहीं होता है। पूर्व के कर्मों की निर्जरा होती है, शुभ कर्मों (पुण्य) का ग्रहण होता है और सहज ही ध्यान सध जाता है।

सर्वसावद्य योग (पापाचरण) की निवृत्ति का नाम चारित्र और उसके अभ्यास का नाम चारित्र भावना है। इस चारित्र भावना से वर्तमान में आते हुए ज्ञानावरणादि पाप कर्मों का निरोध होता है तथा पूर्वोपार्जित उन्हीं पाप कर्मों की निर्जरा भी होती है।

◆ वैराग्य भावना प्रस्तुत करते हैं:—

सुविदियजगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो य ।

वेरग्गभावियमणो ज्ञाणंमि सुनिच्चलो होइ ॥३४॥

जिसने जगत् के स्वभाव को भली प्रकार जान लिया है, जो निःसंग, निर्भय और सर्वआशाओं से रहित है उसका मन वैराग्य भावना से ओत-प्रोत होता है। वह ध्यान में सहज ही निश्चल (स्थिर) हो जाता है।

व्याख्या :

जिस व्यक्ति में ज्ञान की निर्मलता, दृष्टि की निर्मलता, चारित्र की निर्मलता और वैराग्य या अनासक्ति होती है वह सहज ही ध्यानारूढ़ हो सकता है।

ध्यान का लक्ष्य है—सर्वविकारों से मुक्त होना, मोक्ष प्राप्त करना। सर्व-विकारों का कारण राग है। अतः रागरहित होने पर ही विकारों से मुक्ति सम्भव है। रागरहित होने के लिये वैराग्य आवश्यक है। वैराग्य भाव के अभाव में ध्यान-

साधना में प्रवेश ही सम्भव नहीं है। वैराग्य है विषय-भोगों के सुखों के प्रति विरति अर्थात् रति-अरति का अभाव। विरति ही विरक्ति व संयम के रूप में प्रकट होती है। जो विरक्त है वह ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अधिकारी है। अतः शुभ धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान के साधक के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र व वैराग्य भावना आवश्यक है। इनके अभाव में ध्यान में गति व प्रगति सम्भव नहीं है।

जिसने चराचर जगत् के स्वभाव को भलीभाँति जान लिया है तथा जो संग (विषयासक्ति), भय और आशा से रहित हो चुका है उसका अन्तःकरण चूँकि वैराग्य भावना से सुसंस्कृत हो जाता है इसलिये वह ध्यान में अतिशय स्थिर हो जाता है, उससे कभी विचलित नहीं होता।

देव-मनुष्यादि अवस्थाओं को प्राप्त करने वाले प्राणिसमूह का नाम ही जगत् है। जगत्, लोक और संसार—ये समानार्थक शब्द हैं। वह जगत् अनित्य व अशरण है, किन्तु 'यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकार के मिथ्या अहंकार से ग्रसित होता हुआ जीव जन्म, जरा और मरण से आक्रान्त है। जो जन्मता है वह मरता अवश्य है और मरण का दुःख ही सर्वाधिक दुःख माना जाता है। आचार्य समन्तभद्र का यह कथन सर्वथा अनुभवगम्य है—यह अज्ञानी प्राणी मृत्यु से डरता है, परन्तु उसे उससे छुटकारा मिलता नहीं है। साथ ही सुख को चाहता है, पर वह भी उसे इच्छानुसार प्राप्त नहीं होता। यह जगत् का स्वभाव है। फिर भी अज्ञानी प्राणी इस वस्तुस्थिति को न जानकर निरन्तर मरण के भय से पीड़ित और सुख की अभिलाषा से सदा संतप्त रहता है। जड़ शरीर के सम्बन्ध से जो कर्म का बन्धन होता है उससे चेतन—माता-पिता आदि, अचेतन—धन-सम्पत्ति आदि—इन बाह्य पदार्थों में ममत्वबुद्धि होती है जिसके वशीभूत होकर वह उन विनश्वर पर-पदार्थों को स्थायी समझता है व उनके संरक्षण के लिये व्याकुल होता है। वह यह नहीं जानता कि जन्म-मरण का अविनाभावी सम्बन्ध है, जिन बन्धुजनों को प्राणी अपना व अपने सुख का कारण मानता है वे वास्तव में दुःख के ही कारण हैं तथा जिस धन से वह सुख की कल्पना करता है वह सुख का साधन न होकर तृष्णाजनित दुःख का ही कारण होता है तथा लोक में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो दुःख का कारण न हो। ऐसी वस्तुस्थिति के होते हुए भी खेद है कि यह अज्ञानी प्राणी अपनी अज्ञानता से स्वयं दुःखी हो रहा है। इस प्रकार के जगत् के स्वभाव को जो जान चुका है उसे न तो विषयों में आसक्ति रहती है, न इहलोक व परलोकादि सात भयों में से कोई भय भी पीड़ित करता है, और न इस लोक व परलोक सम्बन्धी

किसी सुख की इच्छा ही रहती है। इस प्रकार वह अपने अन्तःकरण के वैराग्य से सुवासित हो जाने के कारण ध्यान में अतिशय निश्चल हो जाता है।

◆ ध्यान के योग्य देश का निरूपण करते हैं:—

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसीलवज्जियं जइणो।

ठाणं वियण भणियं विसेसओ झाणकालंमि ॥३५॥

मुनि सदैव स्त्री, पशु, नपुंसक और दुराचारी व्यक्तियों से रहित एकान्त स्थान में रहे। ध्यान के समय तो विशेष रूप से मुनि का स्थान निर्जन होना कहा गया है।

व्याख्या :

साधु का स्थान तो सदा ही युवती—मनुष्यस्त्री व देवी, पशु—तिर्यचस्त्री, नपुंसक और कुशील—जुआरी आदि निन्द्य आचरण करने वालों से रहित निर्जन कहा गया है; फिर ध्यान के समय तो वह विशेष रूप से उपर्युक्त जनों से हीन होना ही चाहिये।

ऊपर जो ध्यान के योग्य स्थान का निर्देश किया गया है वह अपरिपक्व योग वाले साधु को लक्ष्य करके किया गया है, आगे जिनके योग स्थिर हो गये ऐसे साधुओं को लक्ष्य करके उसमें विशेषता प्रगट की गई है।

◆ जहाँ चित्त स्थिर रहे वही ध्यान योग्य स्थान है:—

थिर-कयजोगाणं पुण मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं।

गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥३६॥

योगों की स्थिरता से जिनका मन ध्यान में निश्चल (स्थिर) हो गया है, ऐसे मुनियों के लिए मनुष्यों से व्याप्त ग्राम में और शून्य अरण्य में कोई अन्तर नहीं है।

व्याख्या :

ध्यान-साधना के लिए अरण्य, श्मशान आदि किसी स्थान-विशेष का होना आवश्यक नहीं है। जिस साधक का मन जहाँ स्थिर व समाधिस्थ रहे, वही स्थान ध्यान के लिए उपयुक्त है। जो मुनि स्थिर संहनन और धृति से युक्त है तथा कृतयोग हैं अर्थात् जिन मुनियों का मन ज्ञानादि भावनाओं से अतिशय स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, उनके लिये जनसमूह से व्याप्त गाँव में और निर्जन वन में कुछ विशेषता नहीं है, वे स्त्रियों आदि के आवागमन से व्याप्त गाँव के बीच में

और एकान्त वन में भी स्थिरतापूर्वक ध्यान कर सकते हैं। स्वयं ग्रन्थकार ने यही आशय प्रस्तुत किया है।

◆ ध्यान योग्य स्थान का वर्णन करते हैं :—

जो (तो) जत्थ समाहाणं होज्ज मणोवयण-कायजोगाणं ।

भूओवरोहरहिओ सो देसो झायमाणस्स ॥३७॥

अतः जिस स्थान पर ध्यान करने से मन, वचन और काया के योगों का स्वास्थ्य बना रहे अथवा समाधान हो और जो स्थान जीवों के संघटन से रहित हो, वही देश (स्थान) ध्यान करने वाले ध्याता के लिए उपयुक्त स्थान है।

व्याख्या :

ध्याता जीवों की विराधना नहीं करता, अतः जीवाकुल प्रदेश को छोड़कर जहाँ ध्याता के मन-वचन-काय की प्रवृत्ति स्थिर बने वही ध्यान योग्य स्थान है।

जो विद्वान् साधु पर-पदार्थों से भिन्न आत्मा में आत्मा का अवलोकन कर रहा है वह यह विचार करता है कि हे आत्मन् ! तू ज्ञान-दर्शनस्वरूप अतिशय विशुद्ध है। ऐसा साधु एकाग्रचित होकर जहाँ कहीं भी स्थित होता हुआ समाधि को प्राप्त करता है।

◆ ध्यान के योग्य काल का वर्णन करते हैं :—

कालोऽवि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ ।

न उ दिवस-निसा-वेलाइनियमणं झाइणो भणियं ॥३८॥

ध्यान के लिए काल भी वही श्रेष्ठ है जिस काल में (मन, वचन और काया के) योगों का समाधान प्राप्त होता है। ध्यान करने वाले के लिए किसी निश्चित दिन, रात्रि और वेला का नियम नहीं बनाया जा सकता।

व्याख्या :

ध्यान के लिए प्रातः, मध्याह्न, सायं, रात्रि आदि काल-विशेष व अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा आदि दिन आवश्यक व अपेक्षित नहीं हैं, जिस काल में मन, वचन और काया की प्रवृत्ति समता व समाधि से रहे, वही काल ध्यान के लिए उपयुक्त है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ पर मन, वचन एवं योगों की स्वस्थता है, उनके विकृत होने की सम्भावना नहीं है तथा जो प्राणिविघात, असत्यता, चोरी, अब्रह्म (मैथुन) और परिग्रह रूप पापाचरण से रहित है उस स्थान पर कोई भी समय ध्यान के लिये उपयोगी माना गया है।

देश के समान काल भी ध्यान के लिये वही योग्य है जिसमें योगों को उत्तम समाधान प्राप्त होता है। ध्याता के लिये दिन, रात, प्रातः, सायं आदि काल-विशेष तथा और वेला-काल के एक देशरूप मुहूर्त आदि के विशेष नियम का निर्देश नहीं किया गया है। तात्पर्य यह है कि परिपक्व ध्याता किसी भी काल में निर्बाध रूप से ध्यानस्थ हो सकता है।

◆ ध्यान योग्य आसन का निरूपण करते हैं:—

जच्चिय देहावस्था जिया ण झाणोवरोहिणी होइ ।

झाइज्जा तदवस्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ॥३९॥

जिस देहावस्था (आसन) का अभ्यास हो चुका है और जो ध्यान में बाधक नहीं है उसी में अवस्थित होकर ध्याता स्थित-खड़े होकर (कायोत्सर्ग आदि में), निषण्ण-बैठकर (वीरासन आदि में) अथवा निपन्न-सोकर (दण्डायतिक आदि आसन में) ध्यान करें।

व्याख्या :

ध्यान के लिए पद्मासन, वज्रासन, खड्गासन आदि कोई आसन-विशेष आवश्यक नहीं है। जिस आसन से सुख और स्थिरतापूर्वक बैठा जाय, ध्यान के लिए वही आसन उपयुक्त है। खड़े होकर या बैठकर या सोकर ध्यान किया जा सकता है।

महर्षि पतञ्जलि ने भी कहा—‘स्थिरसुखमासनम्’ —योगसूत्र 2/46 ।

◆ ध्यान के लिए मन-वचन-काय-योग का स्थिर होना महत्त्वपूर्ण है। इसका निरूपण करते हुए काल, देश, अवस्था की कट्टरता का निषेध करते हैं :—

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्टासु ।

वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा ॥४०॥

तो देस-काल-चेट्टानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि ।

जोगाण समाहाणं जह होइ तहा (प) यइयव्वं ॥४१॥

सभी देश, सर्वकाल और सर्वचेष्टा (आसनों) में विद्यमान, उपशान्त दोष वाले अनेक मुनियों ने (ध्यान के द्वारा) उत्तम केवलज्ञान आदि की प्राप्ति की है, अतः ध्यान के लिए देश, काल, चेष्टा (आसन) का कोई नियम नहीं है किन्तु जिस प्रकार से मन, वचन और काया के योगों का समाधान हो, उसी प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए।

व्याख्या :

यहाँ शंका हो सकती है कि ध्यान के लिये उक्त प्रकार देश, काल एवं अवस्था का अनियम क्यों कहा गया—उनका कुछ विशेष नियम तो होना चाहिये था? इसके समाधानस्वरूप यह कहा जा रहा है कि मुनिजनों ने विभिन्न देश, काल और शरीर की अवस्थाओं में अवस्थित रहकर चूँकि अनेक प्रकार से पाप को नष्ट करते हुए सर्वोत्तम केवलज्ञान आदि को प्राप्त किया है, इसी से ध्यान के लिये आगम में देश, काल और आसन-विशेषादि का कट्टर नियम नहीं कहा गया है; किन्तु जिस प्रकार से भी योगों—मन, वचन, काय—का समाधान (स्वस्थता) होता है उसी प्रकार धर्म ध्यान में स्थित होने का प्रयत्न करना चाहिये। ध्यान के लिए महत्त्वपूर्ण यह है कि आर्त व रौद्र ध्यान छोड़ने का प्रयास करे। काल, देश, अवस्था जो आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म ध्यान में सहायता करे, वही उपयोगी है अन्य जटिल नियम नहीं है।

ध्यान के आलम्बन का निरूपण करते हुए कहते हैं:—

आलंबणाइं वायण-पुच्छण-परियट्टणाऽणुचिंताओ ।

सामाइयायाइं सद्धम्मावस्सयाइ च ॥४२॥

विसमंमि समारोहइ दढदव्वालंबणो जहा पुरिसो ।

सुत्ताइकयालंबो तह झाणवरं समारुहइ ॥४३॥

धर्म ध्यान के ये आलम्बन हैं— 1. वाचना, 2. पृच्छना, 3. परिवर्तना, 4. अनुचिन्ता। ये चारों श्रुतधर्मानुगामी आलम्बन हैं। सामायिक आदि सदावश्यक (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, ध्यान, कायोत्सर्ग षडावश्यक) चारित्र धर्मानुगामी आलम्बन हैं। जिस प्रकार कोई पुरुष मजबूत सूत्र (रस्सी) आदि का आलम्बन लेकर विषम (ऊँचे) स्थान पर भी आरोहण कर लेता है, उसी प्रकार ध्याता भी सूत्र (वाचना-पृच्छना आदि) का आलम्बन लेकर श्रेष्ठ धर्म ध्यान पर पहुँच जाता है।

व्याख्या :

ध्यान निर्जरा तत्त्व और तप का ग्यारहवाँ भेद है। इसके पूर्व स्वाध्याय तप है। स्वाध्याय का अर्थ है अन्तर्मुखी हो, आत्म-निरीक्षण कर अपने विकारों को दूर करना। स्वाध्याय से ध्यान की सामर्थ्य आती है, अर्थात् ध्यान रूपी प्रासाद पर आरूढ़ होने के लिए स्वाध्याय आलंबन का कार्य करता है।

चित्त की एकाग्रता ध्यान है परन्तु वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और

सामायिक आदि धर्म में मन का चिन्तन व वचन व्यवहार होता है। अतः ये ध्यान के साक्षात् अंग नहीं हैं। वाचना आदि चारों श्रुत धर्मानुगामी अथवा स्वाध्याय के भेद हैं। स्वाध्याय से वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्य से सांसारिक विषयों के प्रति उदासीनता होकर चित्त एकाग्र होता है। अतः स्वाध्याय ध्यान का सहायक अंग है। इसीलिए तप के भेदों में स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान कहा गया है। आशय यह है कि स्वाध्याय अर्थात् आत्मावलोकन से ध्यान करने की ओर प्रगति होती है, ध्यान करने की सामर्थ्य प्रकट होती है। इसीलिए स्वाध्याय ध्यान नहीं होकर ध्यान में आरोहण करने का साधन व आलम्बन है।

जिस प्रकार कोई पुरुष रस्सी, तार, खम्भा, नसैनी आदि दृढ़ आलम्बन से विषम भूमि पर भी आरोहण करता है, ऊपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सूत्रादि के आलम्बन से ध्याता उत्तम ध्यान पर आरूढ़ होता है।

जिनके आश्रय से साधना की जाये उनको आलम्बन कहते हैं। धर्म ध्यान चित्तवृत्ति की वह उच्च स्थिति है जिस पर आरूढ़ होने के लिये कोई सबल आलम्बन होना आवश्यक है। धर्म ध्यान के चार आलम्बन कहे गये हैं, यथा : 1. वाचना, 2. पृच्छना, 3. परिवर्तना और 4. धर्मकथा। प्रस्तुत ग्रन्थ में धर्मकथा के स्थान पर अनुचिन्ता को चतुर्थ आलम्बन कहा गया है।

वाचना—किसी भी सद्ग्रन्थ का वाचन करना 'वाचना' है। वाचना से धर्म विषयक ग्रन्थ का स्वाध्याय ही अभिप्रेत है। जिन ग्रन्थों की वाचना प्राणी के हृदय में विषय, कषाय, मोह, ममता आदि विकारों का कारण हो सकती है ऐसे अहितकारी ग्रन्थों को पढ़ना 'वाचना' के अन्तर्गत नहीं आता है। वाचना के अन्तर्गत उन्हीं ग्रन्थों का वाचन आता है जो विकारों का निवारण करते हों, कषायों को कृश करते हों। जिससे स्वभाव या धर्म की उपलब्धि में सहायता मिलती हो, वैसा वाचन सूत्र-रूप भी होता है और अर्थ-रूप भी होता है। उपयोगपूर्वक अर्थरूप वाचना से चित्त की एकाग्रता होती है एवं बुद्धि में निर्मलता आती है। वाचना का एक रूप सूत्र पढ़कर दूसरों को सुनाना भी है, इससे वाचक व श्रोता, दोनों में धार्मिक भावों की अभिवृद्धि होती है। अतः वाचना को धर्म ध्यान का आलम्बन कहा गया है।

पृच्छना—ग्रन्थों की सीमा होती है। अतः बहुत-से विषय ग्रन्थों में नहीं आते अथवा कई जगह अर्थ की गम्भीरता से विषय बराबर समझ में नहीं आता है। कहीं विचारभेद एवं मतभेद शंका का कारण हो जाता है। इन सब समस्याओं का निवारण करने और शंकाओं का समाधान करने के लिये गीतार्थियों, ज्ञानियों से पृच्छा करना आवश्यक है।

तात्त्विक पृच्छा और समाधान प्राप्ति से उपयोग की एकाग्रता होती है, जिससे भौतिक जगत् एवं वासनाओं से वृत्ति उपरत होती है, अतः पृच्छना को धर्म ध्यान का दूसरा आलंबन कहा गया है।

परिवर्तना—पढ़े हुए व पूछे हुए ज्ञान की बार-बार आवृत्ति न की जाये तो विस्मरण हो जाता है। इस विस्मरण से बचने के लिये पढ़े हुए, सुने हुए ज्ञान को बार-बार दुहराना 'परिवर्तना' है। यह प्राकृतिक नियम है कि मन जैसा स्मरण करता है वही अंतःकरण में अंकित हो जाता है। जिस प्रकार विद्यार्थी पठित विषय को याद रखने के लिए पुनरावृत्ति करता है उसी प्रकार साधक भी ज्ञान की बार-बार परिवर्तना या आवृत्ति करे, तदनुरूप आचरण करे तो उसके संस्कार दृढ़ होते हैं। संस्कारों में दृढ़ता आने से स्वरूप या धर्म में दृढ़ता आती है। अतः धर्म ध्यान में सहायभूत होने से परिवर्तना को धर्म ध्यान का आलंबन कहा है।

अनुचिन्ता—अनुचिन्ता को परिवर्तना में समाहित कर कई ग्रन्थों में धर्मकथा को चतुर्थ आलम्बन माना है।

धर्मकथा—धार्मिक सिद्धान्त सूत्रों के कथन करने, श्रवण करने या पढ़ने के साथ उनका अनुचिन्तन करने से अन्तःकरण को बड़ा बल मिलता है। किस महापुरुष ने अपने विकारों को दूर करने के लिये कैसी साधना की, घोर उपसर्ग उपस्थित होने पर अपने को किस प्रकार बचाया तथा अपना सर्वस्व देकर भी संयम व नियम की किस प्रकार रक्षा की इत्यादि धार्मिक सूत्रों के अनुचिन्तन से आत्मा को प्रेरणा मिलती है और संसार के प्रपंच से विरक्ति होती है, जो धर्म पर स्थिर रहने में बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं, विकारों को दूर करने में पथ-प्रदर्शन का काम करते हैं, वैराग्य वृद्धि में सहायक होते हैं, पाप से बचने के लिये सचेत करते हैं। आशय यह है कि धर्मकथा धार्मिक जीवन निर्माण में सहायक सिद्ध होती है अतः धर्मकथा धर्म ध्यान का आलंबन कही गई है।

◆ ध्यान के क्रम का वर्णन करते हैं:—

ज्ञानोपपत्तिवृत्तिक्रमो होइ मणोजोगनिग्गहाईओ।

भवकाले केवलिणो सेसाण जहासमाहीए ॥४४॥

केवली के भवकाल—शैलेषी अवस्था में शुक्ल ध्यान का प्रतिपत्ति क्रम इस प्रकार रहता है—पहले मनोयोग का निरोध, तदनन्तर वाक्ययोग का और अन्त में काययोग का निरोध होता है। शेष धर्म ध्यान करने वालों के लिए तो जिस प्रकार उन्हें समाधि होवे, वैसा करना अपेक्षित है।

धर्म ध्यान करने वाले ध्याताओं में से कुछ मन का निरोध कर फिर वचन और शरीर या श्वासोच्छ्वास का निरोध करते हैं और कुछ ध्याता शरीर, वचन का निरोध कर मन का निरोध कर पाते हैं। आवश्यक सूत्र में 'ठाणेणं माणेणं झाणेणं....' इन पदों में शरीर-मन के क्रमशः निरोध का क्रम प्रतिपादित है।

व्याख्या :

मोक्ष प्राप्ति के पूर्व अन्तर्मुहूर्त तक रहने वाली शैलेषी अवस्था में केवली के शुक्ल ध्यान में मनोयोग आदि निग्रह होता है। वह क्रम से मनोयोग, वचनयोग और काययोग के निरोध के रूप में होता है। शेष धर्म ध्यान की अवस्थाओं में साधक जिस प्रकार भी योग समाधि को प्राप्त हो उसी क्रम से निग्रह करता है।

◆ अब ध्यातव्य द्वार की प्ररूपणा की जाती है। ध्यातव्य का निरूपण करते समय आज्ञा आदि विचर्यों का नामोल्लेख करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं :—

आणा विजए अवाए, विवागे संठाणओ अ नायव्वा ।

एए चत्तारि पया, झायव्वा धम्मझाणस्स ॥४५॥

धर्म ध्यान के ध्यातव्य ये चार प्रकार के जानने चाहिये:— 1. आज्ञा विचय, 2. अपाय विचय, 3. विपाक विचय तथा 4. संस्थान विचय।

यह गाथा कई मुद्रित ग्रन्थों में नहीं है और किसी ग्रन्थ में इस गाथा को अन्यकर्तृक मानकर इस गाथा की संख्या की गणना नहीं की गई है। अभिधान राजेन्द्र कोश में यह गाथा उपलब्ध है तथा हरिभद्र की संस्कृत टीका में इस गाथा का प्रसङ्ग तथा व्याख्या उपलब्ध होने से इसे अन्यकर्तृक मानना या इस गाथा को स्वीकार न करना उचित नहीं है। इस गाथा के जुड़ने से ध्यानशतक की कुल गाथा संख्या 107 हो जाती है।

व्याख्या :

धर्म ध्यान के इन चारों विचर्यों का विस्तार से निरूपण अग्रिम गाथाओं में किया जा रहा है। धर्म ध्यान का ध्यातव्य आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के भेद से चार प्रकार का है।

◆ आज्ञा विचय का विवेचन किया जा रहा है:—

सुनिउणमणाइणिहणं भूयहियं भूयभावणमह (ण) ग्घं ।

अमियमजियं महत्थं महाणुभावं महाविसयं ॥४६॥

झाइज्जा निरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं ।

अणिउणजणदुणणेयं नय-भंग-पमाण-गमगहणं ॥४७॥

जो सुनिपुण है, अनादि अनन्त है, जगत् के जीवों का हित करने वाली है, अनेकान्तात्मक होने से यथार्थ ग्राही के द्वारा सेवित है, अमूल्य है, परमित है, अजेय है, महान् अर्थ वाली है, महान् सामर्थ्य से युक्त है, महान् विषय वाली है, निरवद्य है, अनिपुण मति के लिए दुर्ज्ञेय है, गहन है, नयभंग तथा प्रमाण ज्ञाता द्वारा ग्राह्य है ऐसी जगत् की प्रदीप स्वरूप जिन भगवान् की आज्ञा का आशंसा से मुक्त होकर ध्यान करना चाहिए। जिससे धर्म ध्यान में स्थित हो सके। यह धर्म ध्यान का 'आज्ञाविचय' नामक प्रथम प्रकार है।

व्याख्या :

आज्ञा विचय का अर्थ है आज्ञा का विचार या आज्ञा का अनुचिन्तन करना। यहाँ आज्ञा शब्द से वही आज्ञा ग्राह्य है जिससे आज्ञापालक का हित हो और किसी भी प्राणी का अहित न हो। ऐसी सर्वहितकारी आज्ञा वीतराग-सर्वज्ञ महापुरुष की ही हो सकती है।

राग ही समस्त दोषों, अशुद्धियों व अधर्म का मूल है। वीतराग देव राग-द्वेष रहित व शुद्ध स्वभाव रूप धर्म को धारण करने वाले होते हैं, अतः उनके सर्व-आदेशों का उद्देश्य, राग की निवृत्ति हो और स्वभाव रूप धर्मप्राप्ति हो, यही रहता है। इस दृष्टि से आज्ञा में धर्म है, यह फलित होता है।

जिसका हृदय राग-द्वेष, विषय-कषाय आदि दोषों से कलुषित हो, ऐसे अपूर्ण छद्मस्थ पुरुष की आज्ञा सर्वहितकारी हो, ऐसा नियम नहीं है, जिससे किसी का भी अहित या अकल्याण हो ऐसी आज्ञा का धर्म ध्यान के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है। अतः प्रकृत में आज्ञा शब्द से वीतराग देव की सर्वहितकारी आज्ञा ही ग्राह्य है।

जिस प्रकार बालक के जीवन के विकास-क्रम की प्रारम्भिक अवस्था में संरक्षक या अभिभावक की आज्ञा का बड़ा महत्त्व होता है, कारण कि बालक की बुद्धि इतनी विकसित व परिष्कृत नहीं होती है कि वह अपने हिताहित को सोच सके, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय कर सके। अतः अभिभावक की आज्ञा बालक के लिये हितकारी, खतरों से बचाने वाली, प्रगति-पथ पर बढ़ाने वाली व जीवन को सफल बनाने वाली होती है; इसी प्रकार साधना के विकास-क्रम में अपने अभिभावक वीतराग अरिहन्त देव या गुरु की आज्ञा का बड़ा महत्त्व है। साधक का हित वीतराग देव की आज्ञापालन में ही है। वीतराग की आज्ञा साधक के लिये हितकारी, विघ्नों से बचाने वाली, प्रगति पथ पर बढ़ाने वाली, जीवन को सफल बनाने वाली, सिद्धि या मुक्ति दिलाने वाली होती है।

धर्म दो प्रकार का है—श्रुतधर्म और चारित्र धर्म। वीतराग देव द्वारा प्ररूपित उपदेश या आदेश श्रुत धर्म है और तदनुसार चलना चारित्र धर्म है। श्रुत धर्म अर्थात् ज्ञान का आलोक पथ-प्रदर्शन का कार्य करता है और चारित्र धर्म उस पर चरण आगे बढ़ाने रूप आचरण का कार्य करता है। जिस प्रकार आलोक के अभाव में पथ दिखाई नहीं देता है। अतः पथिक पथ-भ्रष्ट हो इधर-उधर भटकता, ठोकरें खाता, गर्त में गिरता व अनेक आपत्तियों से आक्रान्त होता है तथा अपने गन्तव्य स्थान को नहीं पहुँच पाता है। इसी प्रकार श्रुत ज्ञान के आलोक के अभाव में—अज्ञानांधकार में—साधक पथ-भ्रष्ट हो इधर-उधर भटकता, विषय-प्रलोभनों की ठोकरें खाता, कषाय के गर्त में गिरता व अनेक विभ्रमों से आक्रान्त होता है तथा अपने गन्तव्य स्थान मुक्ति या सिद्धि को प्राप्त करने में असफल रहता है।

श्रुत धर्म के अभाव में चारित्र धर्म का पालन सर्वथा असम्भव है। अतः साधक के लिये सर्वप्रथम श्रुत धर्म रूप आज्ञा का चिंतन-मनन आवश्यक है। यह साधना का प्रथम कदम है। इसके पश्चात् ही साधना का अगला कदम उठाया जा सकता है, अतः धर्म ध्यान में इस आज्ञाविचय को प्रथम स्थान दिया गया है।

◆ जिनाज्ञा की यथार्थता प्रस्तुत करते हैं:—

तत्थ य मइदोब्बलेणं तव्विहायरियविरहओ वावि ।

णयगहणत्तणेण य णाणावरणोदएणं च ॥48॥

हेऊदाहरणासंभवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्जेज्जा ।

सव्वण्णुमयमवितहं तहावि तं चिंतए मइमं ॥49॥

अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जगप्पवरा ।

जियराग-दोस-मोहा य णण्णहावादिणो तेणं ॥50॥

उपर्युक्त आज्ञा— जिनवाणी का निम्नलिखित कारणों से सम्यक् अवबोध नहीं होता है—(1) मति की दुर्बलता, (2) अध्यात्म विद्या के जानकार आचार्यों का अभाव, (3) ज्ञेय की गहनता, (4) ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म की तीव्रता, (5) हेतु का अभाव तथा (6) उदाहरण सम्भव न होना। इन कारणों से सर्वज्ञ प्रणीत अविद्यमान वचन का सम्यक् अवबोध नहीं होता। फिर भी बुद्धिमान् ध्याता, 'सर्वज्ञ प्रतिपादित मत सत्य है', ऐसा समझे क्योंकि जगत् में श्रेष्ठ जिन-भगवान्, अनुपकारी जीवों पर भी अनुग्रह करने में तत्पर रहते हैं और उन्होंने राग, द्वेष और मोह पर विजय पा ली है, इसलिए वे अन्यथावादी (एवं अयथार्थ-वादी) नहीं हो सकते।

व्याख्या :

वीतराग की आज्ञा श्रुतज्ञान रूप होती है। श्रुतज्ञान स्वभाव का ज्ञान एवं स्वाभाविक व स्वयंसिद्ध ज्ञान होने से सनातन सत्य होता है, वह कभी नहीं बदलता है, अतः अन्यथा एवं अयथार्थ नहीं हो सकता है।

◆ अपायविचय को निरूपण करते हैं :

रागद्वोस-कसाया ऽऽसवादिकिरियासु वड्डमाणणं ।

इह-परलोयावाओ झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥ 51 ॥

वर्ज्यपरिवर्ज्यी अर्थात् हेय का त्यागी अप्रमत्त मुनि राग, द्वेष, कषाय और आस्रव आदि क्रियाओं में प्रवर्तमान व्यक्तियों के इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोषों व दुःखों का चिन्तन करें। यह धर्म्य ध्यान, जिससे धर्म ध्यान में स्थित हो सके, का 'अपायविचय' नामक द्वितीय प्रकार है।

व्याख्या :

धर्म ध्यान का दूसरा भेद अपाय विचय है। अपाय का अर्थ है दोष, विचय का अर्थ है विचार अर्थात् दोषों पर विचार करना अपाय विचय है। आज्ञा या धर्म का पालन न करने पर दोषों की उत्पत्ति होती है जो समस्त बंधन, भव-भ्रमण व दुःखों का कारण है। अतः बन्धन, भव-भ्रमण व दुःखों से मुक्ति तभी सम्भव है जब दोषों का निवारण व धर्म का धारण हो। दोषों का निवारण तभी सम्भव है जब दोषों का यथार्थ बोध हो। कारण कि दोष कैसा भी हो, वह प्राणी के लिये अहितकारी, अकल्याणकारी, अमंगलकारी, अनिष्टकारी होता है, जो किसी को भी इष्ट नहीं है। अतः दोषों के यथार्थ बोध से साधक की दोषों के प्रति अरुचि होती है, वह उनसे मुक्ति पाना चाहता है तथा उनकी पुनरावृत्ति नहीं करता है। दोषों की पुनरावृत्ति व उत्पत्ति न होने से निर्दोषता की अभिव्यक्ति होती है, यही साधक का परमधर्म है। यह स्पष्ट है कि दोषों का विचार या बोध धर्म की उपलब्धि में सहायक है, इसी कारण अपायविचय धर्म ध्यान का एक अंग है।

स्वभाव व गुण को उत्पन्न नहीं करना पड़ता, दोषों के दूर होने पर गुण स्वतः प्रगट या आविर्भूत हो जाते हैं, जैसे जल के उष्णता रूप विभाव या दोष के दूर होने पर जल अपने स्वाभाविक गुण शीतलता को स्वतः प्राप्त हो जाता है। अतः आत्मा के स्वाभाविक गुण रूप धर्म की अभिव्यक्ति के लिये दोषों को दूर करना आवश्यक है।

जिस प्रकार शरीर के विकारों का उदय रोग या दोष है। शरीर में विकारों की

उत्पत्ति का कारण शरीर में विजातीय द्रव्यों का प्रवेश होना, वात-पित्त-कफ का विषम होना, धातु का विकृत होना है; उसी प्रकार आत्मा में विकारों का उदय दोष है। आत्मा में विकारों या दोषों की उत्पत्ति का कारण आत्मा का विजातीय द्रव्यों के संग से वैभाविक अवस्था को प्राप्त होना, समभाव को छोड़ विषमभाव को ग्रहण करना है। दोषों से छूटने का उपाय विजातीय के संग से व विषम भाव से बचना है। विजातीय द्रव्यों के संग व विषमभाव से बचने की प्रेरणा का उदय तब ही होता है जब उनसे उत्पन्न दोषों व दुःखों का ज्ञान हो। तात्पर्य यह है कि विजातीय द्रव्यों से छूटने व स्वभाव रूप धर्म की प्राप्ति में दोषों के ज्ञान व विचार का बड़ा महत्त्व है।

◆ विपाकविचय का निरूपण किया जा रहा है:—

पयङ्-ठिङ्-पण्सा ऽणुभावभिन्नं सुहासुहविहन्तं।

जोगाणुभावजणियं कम्मविवागं विचिन्तेज्जा ॥ 52 ॥

जो प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग—इन चार भेदों से भिन्न है, जो शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है तथा जो योग (मन, वचन व काया की प्रवृत्ति) और अनुभाव (मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय) से उत्पन्न होता है ऐसे कर्म-विपाक का चिन्तन करना चाहिए, जिससे धर्म ध्यान में स्थित हो सके। यह धर्म ध्यान का 'विपाक विचय' नामक तीसरा भेद (प्रकार) है।

व्याख्या :

दोष या कर्म के परिपाक से होने वाले फल को विपाक कहते हैं। इस विपाक, फल या परिणाम पर विचार करना, 'विपाक विचय' है। जिस प्रकार जो विष के परिणाम 'मरण' को जानता है वह विष से बचता है। जो आग के परिणाम 'दहन' को जानता है वह आग से दूर रहता है; उसी प्रकार जो कर्म रूप दोषों के विपाक से होने वाले अनिष्ट व दुःखद परिणामों को जानता है, वह दोषोत्पत्ति के कारणों से बचता व दूर रहता है तथा पूर्वसंचित दोषों (कर्मों) के निवारण का प्रयत्न करता है। दोषों से मुक्ति पाने का यह प्रयत्न ही साधना या धर्म है। तात्पर्य यह है कि दोषों के निवारण से होने वाली मुक्ति प्राप्ति में दोषों के विपाक के ज्ञान या विचार का बड़ा महत्त्व है।

यह नियम है कि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही विपाक होता है, फल आता है। मधुर वस्तु के बीज से मधुर फल और कटु वस्तु के बीज से कटु फल मिलता है। मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रव तथा हिंसा, झूठ आदि पाप दोष हैं। दोषों के फल दूषित ही होते हैं। दूषित फल जीवन में कड़वाहट व दुःख उत्पन्न

करते हैं। राग-द्वेष आदि विषय-विकारों के परिणामस्वरूप प्राणी को आकुलता-व्याकुलता ही मिलती है। हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, कलह आदि पापों के विपाक स्वरूप घोर वेदनाएँ, नारकीय यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सम्यक्त्व, संयम, तप आदि के परिणामस्वरूप वास्तविक शांति व सच्चा आनंद मिलते हैं। फलतः वह धर्म या स्वानुभव से आविर्भूत आनंद की तुलना में विषय भोगों के सुख को दुःख रूप समझता है। अतः वह विषय सुखों की आकांक्षा नहीं रखता है अपितु शुभाशुभ कर्मों के विपाक सुख-दुःख से मुक्त अवस्था, स्वभाव या धर्म को ही इष्ट समझता है। जो साधना या धर्म का लक्ष्य है।

विभाव या परभाव विषय-भोगों में रमण करना व चिंतन करना आर्त-रौद्र ध्यान है। परभाव में रमणता दूर करने का उपाय है परभाव के दुष्परिणामों से परिचित होना। परभाव से, पर-पदार्थों की इच्छा से, 'पर में सुख-दुःख देने की शक्ति है', ऐसी मान्यता से प्राणी पर-पदार्थों के आधीन अर्थात् पराधीन होता है। पर-पदार्थ जड़ हैं, अतः जड़ के संयोग से जड़ता आती है। पर-पदार्थ नश्वर व परिवर्तनशील हैं अतः उनके संयोग से जन्म-मरण रूप परिवर्तन या परिणमनशीलता आती है। पराधीनता, जड़ता, नश्वरता में दुःख ही है। अतः परभाव या विभाव के विपाक का विचार कर उससे मुक्ति पाने का उपाय सोचना 'विपाकविचय' है। विपाक विचय से स्वभाव रूप धर्म की प्राप्ति होती है अतः यह धर्म ध्यान है।

◆ संस्थानविचय का स्वरूप निरूपण करते हैं:—

जिणदेसियाइ लक्खण-संठाणा ऽऽसण-विहाण-माण्डं ।

उप्पायट्ठिइभंगाइ पज्जवा जे य दव्वाणं ॥ 53 ॥

पंचत्थिकायमइयं लोगमणाइणिहणं जिणक्खायं ।

णामाइभेयविहियं तिबिहमहोलोयभेयाइं ॥ 54 ॥

खिइ-वल्लय-दीव-सागर-नरय-विमाण-भवणाइसंठाणं ।

वोमाइपट्ठणं निययं लोगट्ठिइविहाणं ॥ 55 ॥

उवओगलक्खणमणाइनिहणमत्थंतरं सरीराओ ।

जीवमरूविं कारिं भोयं च सयस्स कम्मस्स ॥ 56 ॥

तस्स य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसायपायालं ।

वसणसयसावयमणं मोहावत्तं महाभीमं ॥ 57 ॥

अण्णाण - मारुएरियसंजोग - विजोगवीइसंताणं ।

संसार-सागरमणोरपारमसुहं विचिंतेज्जा ॥ 58 ॥

अर्हत् जिनदेव के कहे हुए द्रव्यों के लक्षण, संस्थान, आसन (आधार या रहने का स्थान), विधान (जीव-पुदन्तर आदि का भेद), परिमाण, उत्पाद, स्थिति (ध्रौव्य), व्यय (नाश) आदि पर्यायों का ध्याता को चिन्तन करना चाहिए। जिन द्वारा लोक पाँच अस्तिकायमय अनादि, अनन्त (आदि-अन्त रहित), नामादि निक्षेपों के भेद से अधो-लोक, तिर्यचलोक और ऊर्ध्वलोक इन तीनों भेदों में विभक्त हैं। लोक के इस संस्थान का ध्याता को चिन्तन न करना चाहिए। पृथ्वी, वलय, घनोदक द्वीप, सागर, नरक, विमान, भवन आदि के संस्थानों का चिन्तन करना चाहिए एवं आकाश आदि पर प्रतिष्ठित नियत लोक स्थिति के विधान प्रकार का भी चिन्तन करना चाहिए।

जीव उपयोग लक्षण वाला है, अनादि-अनन्त है, शरीर से भिन्न है, अरूपी है और स्वयं के कर्मों का कर्ता-भोक्ता है; ऐसे उस जीव के अपने कर्मों से उत्पन्न यह संसार-सागर जन्म-मरण के जल से भरपूर, कषाय, क्रोध, मान आदि सैकड़ों व्यसन (दुःख) रूपी श्वापद मत्स्यों से युक्त, मोह रूपी आवर्त से युक्त अत्यन्त भयंकर, अज्ञान रूपी वायु से प्रेरित संयोग-वियोग रूपी तरंगों की सन्तति (प्रवाह) से युक्त, आर-पार रहित (अनादि-अनन्त) और अशुभ है—ऐसा चिन्तन करना चाहिए।

व्याख्या :

धर्म ध्यान का चौथा भेद 'संस्थान विचय' है। उत्पत्ति-स्थिति-व्यय लक्षण युक्त पदार्थों को धारण करने वाला तथा आदि-अंत रहित, जो लोक है उसके स्वरूप का चिन्तन करना 'संस्थान विचय' है।

जब लोक के संस्थान पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से विचार किया जाता है तो यह स्पष्ट विदित होता है कि सारा ही लोक जीव और अजीव, इन दो द्रव्यों से भरा हुआ है। इसमें स्थित अनंतानंत जीव अनन्तकाल से जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, रूपी दुःख भोग रहे हैं। मुक्त जीवों के अतिरिक्त कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो सर्वथा दुःख रहित या सुखी हो। इससे यह निष्कर्ष भी सामने आता है कि संसारी या लोक में अनुरक्त जीव कभी भी दुःखरहित सुख प्राप्त नहीं कर सकते हैं। कारण कि वे सुख के लिये जिन लौकिक या पर-पदार्थों का आश्रय लेते हैं, पर-पदार्थ जड़-नश्वर, संसरणशील स्वभाव वाले हैं। अतः पर-पदार्थों के आश्रय के परिणामस्वरूप पराधीनता, जड़ता, नश्वरता, विनाश, अभाव, अतृप्ति

आदि दोषों या विपाकों का उदय होता है जो दुःख रूप ही हैं। दोषी या दुःखी होना कोई नहीं चाहता है। अतः जब ध्याता को लोक संस्थान पर दृष्टिपात या विचार करने से लोक में सर्वत्र व्याप्त दुःखद रूप का बोध हो जाता है तो वह लोकातीत, अलौकिक (आध्यात्मिक) अक्षय, अखण्ड, अनन्त, आनन्द के क्षेत्र में प्रवेश के लिये चिंतन करता है। संस्थान विचय से धर्म की उपलब्धि होने से इसे धर्म ध्यान का अंग माना गया है, जो समीचीन ही है।

लोक संस्थान पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि संसार के सारे ही प्राणी संसार चक्र में भव भ्रमण कर रहे हैं। कभी वे शुभ कार्यों के विपाक से ऊर्ध्वगमन कर ऊर्ध्वलोक में देव बनते हैं। कभी अशुभ कर्मों के विपाक से अधोगति को प्राप्त हो अधोलोक में नारक बनते हैं। कभी शुभाशुभ कर्मों के विपाक से मध्य लोक में मनुष्य, तिर्यच बनते हैं। इस प्रकार सर्व जीव अनंतकाल से लोक के ऊर्ध्वभाग से अधोभाग पर्यंत चार गति, चौरासी लक्ष योनियों में उसी प्रकार भ्रमण कर रहे हैं।

ग्रन्थकार श्री जिनभद्र क्षमाश्रमण ने संसार-सागर के दुःख स्वरूप को रूपक के माध्यम से स्पष्ट करते हुए संसार-सागर से पार जाने का प्रशस्त मार्ग बताया है कि संसार के दुःखों का चिन्तन करे और धर्म ध्यान में स्थिर हो समुद्र में रहने वाली अपार जलराशि के समान यह जीव अपने-अपने कर्मों के उदयवश इस अनादि-अनन्त संसार में जन्म-मरण करता रहता है। जल का मूल पाताल है तथैव जन्म-मरण का मूल कषाय है। जल में स्थित भयङ्कर जीव-जन्तुओं, मछली, मगरमच्छों की तरह जीवन और मृत्यु के मध्य अनेक भयङ्कर कष्ट और विपदाएँ विद्यमान हैं। समुद्री भँवर में जिस प्रकार सब-कुछ चक्कर में फँस जाता है, नष्ट हो जाता है, तदैव मोह के कारण जीव इस संसार के चक्र में फँस जाता है। जिस प्रकार समुद्री तूफान से प्रेरित तरंगें प्रलयकारी होती हैं तथैव अज्ञान से प्रेरित राग-द्वेष की तरंगें जीव के स्वभाव का घात कर देती हैं। ग्रन्थकार ऐसे आर-पार-रहित असीम सागर रूपी संसार के दुःख के स्वरूप का चिन्तन करने की प्रेरणा देते हैं जिससे दुःखों के कारण को जानकर उनसे मुक्त हो सकें।

संसार-चक्र या भव-भ्रमण के दुःखों से बचना है तो संसरणशील लौकिक पदार्थों के संसर्ग से बचना ही होगा, निःसंग होना ही होगा। इसमें संस्थान विचय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्थान विचय से ध्याता को पूर्व में भोगे दुःख स्थानों की वेदना की स्मृति होती है जिससे उसे लोक से उपरति या विरति होती है तथा पर-पदार्थों के संग से उत्पन्न हुई पराधीनता से बचने और मुक्त होने की प्रेरणा

जगती है। फलतः वह पर-पदार्थों का संग या उनसे संबंध-विच्छेद करने का प्रयत्न करता है। इससे आत्मा का विभाव रूप अधर्म हटकर स्वभाव रूप धर्म की उपलब्धि होती है। धर्मप्राप्ति में कारणभूत होने से संस्थानविचय को धर्म ध्यान में स्थान दिया गया है।

अभिप्राय यह है कि लोक के संस्थान या स्वरूप के विचार से लौकिक वस्तुओं तथा उनके संबंध के परिणाम से होने वाले सुख-दुःखात्मक वेदन का यथार्थ बोध होता है। दुःख किसी को भी इष्ट नहीं है। अतः ध्याता संस्थान विचय ध्यान के बल से दुःखों के मूल कारण 'वस्तुओं के संबंध' का विच्छेद करता है। लौकिक वस्तुओं से संबंध-विच्छेद होने से आत्मा को अलौकिक धर्म की उपलब्धि होती है।

◆ रत्नत्रय से संसार-समुद्र को पार करना सम्भव है, ऐसा दर्शाते हैं:—

तस्स य संतरणसहं सम्महंसण-सुबंधणमणघं ।

णाणमयकण्णधारं चारित्तमयं महापोयं ॥59 ॥

संवरकयनिच्छिइं तव-पवणाइद्धजइणतरवेगं ।

वेरग्गमग्गपडियं विसोत्तियावीइनिक्खोभं ॥60 ॥

आरोहुं मुणि-वणिया महघसीलंग-रयणपडिपुनं ।

जह तं निव्वाणपुरं सिग्घमविग्घेण पावंति ॥61 ॥

ऐसे संसार-सागर को पार करने में समर्थ वह चारित्र रूपी महान् नौका सम्यग्दर्शन के सुबन्धन से युक्त, अमूल्य, ज्ञानरूपी नाविक से सहित है। संवर युक्त होने से छिद्ररहित, तप रूपी पवन से प्रेरित होकर तीव्र गति से चलने वाली, वैराग्य मार्ग पर बढ़ने वाली और दुर्ध्यान की लहरों से भी निष्प्रकम्प है। मुनि रूपी वणिक्—व्यापारी महार्घ्य—बहुमूल्य शीलांगरत्नों से परिपूर्ण उस नौका पर आरूढ़ होकर शीघ्र ही, बिना किसी बाधा के, उस निर्वाणपुर को पा लेते हैं।

व्याख्या :

ऐसे संसार-सागर से पार उतारने में चारित्र पालन रूपी महापोत (नाव) समर्थ है। जो प्रशस्त ज्ञान रूपी कर्णधार वाली है, जो सम्यग्दर्शन के सुबन्धनों से युक्त है; जो संवरयुक्त होने से छिद्र से रहित है। तप रूप पवन से प्रेरित होने से तीव्र वेग से गमन करने वाली है, वैराग्य रूपी मार्ग में पड़ी हुई है तथा विस्रोतसिका (दुर्ध्यान) रूपी वीचिका के द्वारा भी निष्प्रकम्प है, अर्थात् अपध्यान

की तरंगों के न उठने से क्षोभरहित है; मुनि रूपी व्यापारी बहुमूल्य शील के अंगों रूपी रत्नों से परिपूर्ण नौका पर आरूढ़ होते हुए शीघ्र बिना किसी बाधा के निर्वाणपुर को प्राप्त करते हैं।

♦ निर्वाण अक्षयसुख है, ऐसा प्रस्तुत करते हैं:—

तत्थ य तिरयणविणिओगमइयमेगंतियं निरावाहं ।

साभावियं निरुवमं जह सोक्खं अक्खयमुवेंति ॥ 62 ॥

निर्वाण प्राप्त कर वहाँ वे जीव तीन रत्नों के विनियोगमय, ऐकान्तिक, निराबाध, स्वाभाविक, निरुपम तथा अक्षय सुख को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या :

मुक्ति प्राप्त होने पर जीव स्वाभाविक सुख प्राप्त करता है, जहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का क्रियाकरणात्मक विनियोग सुख प्राप्त होता है। यह अक्षय सुख ऐकान्तिक, निराबाध, स्वाभाविक और निरुपम होता है। ध्याता का चित्त स्फटिकवत् निर्मल हो जाता है। सभी जीवों को आत्मतुल्य देखने में दर्शन गुण की, सभी जीवों को आत्मतुल्य जानने में ज्ञान गुण की, सभी जीवों के साथ आत्मतुल्य व्यवहार में चारित्र गुण की सार्थकता है।

♦ आत्म स्वभाव के ध्यानी की श्रेष्ठता प्रस्तुत करते हैं:—

किं बहुणा ? सव्वं चिय जीवाइपयत्थवित्थरोवेयं ।

सव्वनयसमूहमयं झाइज्जा समयसब्भावं ॥ 63 ॥

अधिक क्या कहा जाये? ध्याता जिनवाणी को ध्यान का विषय बनाये, जिसमें समस्त जीवादि पदार्थों का सभी नयों (विचार-पक्षों) द्वारा विस्तार से वर्णन किया गया है।

व्याख्या :

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ कहे गये हैं, जिनका विस्तृत विवेचन जिन-वाणी अर्थात् आगमसूत्रों में नयदृष्टि से किया गया है। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय, व्यवहार-निश्चय नय, व्युच्छित्ति-अव्युच्छित्ति नय, नैगय-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ़ एवं भूत सप्तनय आदि विचार-पक्षों के द्वारा जीवादि पदार्थों के विस्तृत विवेचन पर चिन्तन करता हुआ ध्याता जीव के अपने स्वरूप को समझे और उसे ही ध्यान का विषय बनाकर स्वभावमय हो जाये। यही जिन-वाणी, अर्हत्-प्रवचन अथवा

सिद्धान्त के अर्थ का ध्यान करने की सार्थकता है।

◆ धर्म ध्यान के अधिकारी मुनि का परिचय दे रहे हैं:—

सव्वप्पमायरहिया मुणओ खीणोवसंतमोहा य।

झायारो नाण-धणा धम्मज्झाणस्स निहिट्ठा ॥६४ ॥

जो मुनि मद, विषय, कषाय, विकार आदि सभी प्रमादों से रहित हैं, जिनका मोह क्षीण या उपशान्त हो गया है, ऐसे ज्ञानी मुनि धर्म ध्यान के अधिकारी कहे गये हैं।

व्याख्या :

आठ मद, पाँच विषय, चार कषाय, निन्दा, विकथा—ये प्रमाद कहे गये हैं। इनसे रहित मुनि अप्रमत्त ज्ञानी होते हैं। जो मोहनीय कर्म के क्षय से क्षीणमोह तथा मोहनीय कर्म के उपशान्त होने से उपशान्तमोह वाले होते हैं। ऐसे ज्ञानी मुनि धर्म ध्यान के ध्याता की योग्यता वाले होते हैं। यहाँ धर्म ध्यान के ध्याता मुमुक्षु मुनियों का निरूपण किया गया है।

◆ धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के ध्याता की विशेषता प्रस्तुत करते हैं:—

एएच्चिय पुब्बाणं पुब्बधरा सुप्पसत्थसंघयणा।

दोण्ह सजोगाजोगा सुक्काण पराण केवलिणो ॥६५ ॥

धर्म ध्यान के अभ्यास में परिपक्व जो पूर्वधर और सुप्रशस्त (वज्र ऋषभ नाराच) संहनन वाले मुनि होते हैं वे ही शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकारों—पृथक्त्व वितर्क विचार तथा एकत्व वितर्क अविचार के ध्याता हो सकते हैं। संयोगी केवली के तीसरे प्रकार का सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान होता है तथा अयोगी केवली के चतुर्थ प्रकार का व्यवच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान होता है।

व्याख्या :

शुक्ल ध्यान के पहले के दो भेद के ध्याता पूर्वधर और प्रशस्त संहनन वाले होते हैं अर्थात् पूर्व के दो शुक्ल ध्यान के ध्याता अतिशय प्रशस्त संहनन तथा पूर्वों के ज्ञाता (श्रुत केवली) होते हैं और अन्तिम दो शुक्ल ध्यानों के ध्याता क्रम से संयोगी केवली और अयोगी केवली होते हैं। पूर्व के दो शुक्ल ध्यान (1) पृथक्त्ववितर्क सविचार तथा (2) एकत्ववितर्क अविचार हैं और अन्तिम दो शुक्ल ध्यान (3) सूक्ष्म क्रिया निवृत्ति और (4) व्यवच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति हैं।

◆ मुनि के ध्यानमय जीवन का परिचय कराते हैं:—

झाणोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो ।

होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणेण जो पुब्बि ॥६६॥

जिस मुनि का चित्त पहले से ही धर्म ध्यान से सुभावित है, वह ध्यान से उपरत होने पर भी नित्य-अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन में संलग्न रहता है।

व्याख्या :

धर्म-ध्यान की चार भावनाएँ एवं अनुप्रेक्षाएँ हैं—

- | | |
|----------------------|------------------------|
| (1) एकत्वानुप्रेक्षा | (2) अनित्यानुप्रेक्षा |
| (3) अशरणानुप्रेक्षा | (4) संसारानुप्रेक्षा । |

एकत्वानुप्रेक्षा—एकत्व का अर्थ एकता व अकेलापन है। साधक ध्यान की गहराई में अपने को संसार और परिवार से ही नहीं अपितु अपने को अपने तन से भी भिन्न 'अकेला' पाता है। वह संयोग में वियोग का अनुभव कर अकेलेपन का साक्षात्कार करता है। साथ ही ध्यान-साधक ध्यान में आत्म-साक्षात्कार करता है तो उसे अविनाशीपन, ध्रुवत्व का बोध होता है। वह अनुभव करता है कि उसकी अविनाशी (सिद्ध) से एकता है। अविनाशी और वह एक ही जाति के हैं, केवल दोनों में गुणों की अभिव्यक्ति की भिन्नता है। कहा भी है 'सिद्धां जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय', इस अभेद का अनुभव होने पर वह सदैव के लिए अविनाशी अवस्था को प्राप्त हो सकता है। साथ ही वह आत्म-निरीक्षण से यह भी देखता है कि अन्तर्लोक में शरीर, मन और संवेदनाओं में निरन्तर परिवर्तन (पर्याय-प्रवाह) चल रहा है अतः ये सब विनाशी जाति के हैं। इन सब में जातीय एकता है। अविनाशी जाति का होने से मेरी इन विनाशी जाति वाले पदार्थों से भी भिन्नता है, ये पर हैं। इस प्रकार पर से अपनी भिन्नता का अनुभव कर अपने स्वरूप में स्थित हो अविनाशी से एकता (एकरूपता) का अनुभव करना एकत्वानुप्रेक्षा है, यही आचाराङ्ग सूत्र में कथित ध्रुवचारी बनने की साधना है।

अनित्यानुप्रेक्षा—साधक ध्यान में अन्तर्लोक में प्रवेश कर आत्म-निरीक्षण करता है तो अनुभव करता है कि जैसे बाह्य-लोक में सब पदार्थ बदल रहे हैं, उसी प्रकार भीतर के लोक में भी शरीर का अणु-अणु और संवेदनाएँ सभी प्रतिपल बड़ी तीव्र गति से बदल रहे हैं। सर्वत्र उत्पाद-व्यय का प्रवाह सतत चल रहा है। देखते ही देखते संवेदना उत्पन्न होती है और नष्ट हो जाती है। संसार में दृश्यमान व प्रतीयमान कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो नित्य हो, सब अनित्य हैं,

विनाशी हैं। सुख, दुःख, परिस्थिति, अवस्था, तन, मन, धन, स्वजन, परिजन, मित्र, भूमि, भवन, सब अनित्य हैं। राजा, राणा, सम्राट्, चक्रवर्ती, शहंशाह, सेठ, साहूकार, विद्वान्, धनवान्, सत्तावान्, शक्तिमान्, सब अन्त में मरकर मिट्टी में मिल जाते हैं। पानी के पताशे जैसा तन का तमाशा है। संसार के सब पदार्थ क्षण-क्षण क्षीण होकर नष्ट हो रहे हैं, क्षणिक हैं। हाथी के कान के समान, संध्या के सूर्य के समान, ओस की बूँद के समान, पीपल के पत्ते के समान अस्थिर हैं। अनित्य का मिलना भी न मिलने के समान है अर्थात् मिलना न मिलना, दोनों एक समान हैं, अतः अनित्य पदार्थों को चाहना, उनका भोग भोगना सब व्यर्थ हैं। ऐसी प्रज्ञा से पदार्थों की अनित्यता का प्रत्यक्ष अनुभव कर समता में स्थित रहना, उनके प्रति राग-द्वेषात्मक प्रतिक्रिया न करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

अशरणानुप्रेक्षा—ध्यान में साधक अन्तर्जगत् में शरीर व संवेदनाओं की अनित्यता का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। इस अनुभूति से वह जानता है कि अनित्य पदार्थों का आश्रय लेना, उनके सहारे से जीवन मानना भूल है। कारण कि जो पदार्थ स्वयं ही अनित्य है उनका सहारा या शरण कैसे नित्य हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता। अतः अनित्य पदार्थों का सहारा, आश्रय, शरण लेना धोखा खाना है। ध्यानमग्न साधक देखता-अनुभव करता है कि तन प्रति-क्षण बदल रहा है अतः यह आश्रय लेने योग्य नहीं है, शरणभूत नहीं है। जब तन ही शरणभूत नहीं है, आश्रय योग्य नहीं है तब धन, परिजन, स्त्री, मित्र आदि आश्रय लेने योग्य हो ही नहीं सकते। ऐसा अनुभूति के स्तर पर बोध कर अनित्य पदार्थों के आश्रय का त्याग कर देना, अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाना अशरणानुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा—साधक जब ध्यान की गहराई में प्रवेश करता है तो अनुभव करता है कि संवेदनाएँ उसे अशान्त बना रही हैं, जला रही हैं, सारा अन्तर और बाह्य लोक प्रकम्पन की आग में जल रहा है। संसार में एक क्षण भी लेश मात्र भी सुख नहीं है। जो बाहर से साता व सुख का वेदन हो रहा है, वह भी भीतरी जगत् में दुःख रूप ही अनुभव हो रहा है, आकुलता, उत्तेजना पैदा कर रहा है। संवेदना चाहे वह सुखद ही हो, वस्तुतः वह वेदना ही है अर्थात् दुःख रूप ही है। दुःख से मुक्ति पाने के लिए इस संसार से, शरीर से अतीत होने में ही कल्याण है अर्थात् लोकातीत, देहातीत, इन्द्रियातीत होने में ही, अक्षय, अव्याबाध, अनन्त सुख की उपलब्धि सम्भव है।

इन चारों अनुप्रेक्षाओं में से एकत्वानुप्रेक्षा से ध्रुवता—अमरत्व का अनुभव,

अनित्यानुप्रेक्षा से वैराग्य, अशरणानुप्रेक्षा से पराश्रय (परिग्रह) का त्याग, संसारानुप्रेक्षा से संसार से अतीत के जगत् में प्रवेश होता है। इसे ही आगम की भाषा में व्युत्सर्ग एवं कायोत्सर्ग कहा है। व्युत्सर्ग अर्थात् लोकातीत होना, कायोत्सर्ग अर्थात् देहातीत होना ध्यान से उत्तरवर्ती स्थिति है।

◆ धर्म ध्यानी की लेश्याओं का वर्णन करते हैं:-

होति कमविसुद्धाओ लेसाओ पीय-पम्म-सुक्काओ ।

धम्मज्झाणोवगयस्स

तिव्व-मंदाइभेयाओ ॥६७॥

धर्म ध्यान में स्थित ध्याता के ध्यान के समय पीत (तेजः), पद्म और शुक्ल—ये तीन लेश्याएँ क्रमशः विशुद्ध होती हैं। परिणामों के आधार पर वे तीव्र या मन्द होती हैं।

व्याख्या :

कर्म के निमित्त से आत्मा का जो परिणाम होता है वह लेश्या है। लेश्या छः प्रकार की है—1. कृष्ण लेश्या, 2. नील लेश्या, 3. कापोत लेश्या, 4. पीत लेश्या (तेजो लेश्या), 5. पद्म लेश्या और 6. शुक्ल लेश्या।

इनमें से प्रथम तीन अशुभ व अन्तिम तीन शुभ हैं। धर्म ध्यानी के जो पीत आदि तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं वे क्रम से विशुद्धि को प्राप्त हैं। पीत लेश्या की अपेक्षा पद्म और पद्म लेश्या की अपेक्षा शुक्ल लेश्या उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं। इनमें प्रत्येक तीव्र, मध्यम और मन्द भेदों वाली है।

धर्म ध्यान को प्राप्त हुए जीव के तीव्र, मन्द आदि भेदों को लिए हुए क्रम से विशुद्धि को प्राप्त हुई पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होती हैं।

◆ धर्म ध्यान के लक्षणों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं:-

आगम-उवएसोऽऽणा-णिसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं ।

भावाणं सहहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥६८॥

आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग के अनुसार आचरण करने वाले की जो जिन-प्रतिपादित भावों (तत्त्वों, पदार्थों) में श्रद्धा है, वह धर्म ध्यान का लिङ्ग है। तात्पर्य यह है कि आगम रुचि, उपदेश रुचि, आज्ञा रुचि और निसर्ग रुचि—यह चार प्रकार की रुचि (श्रद्धा) धर्म ध्यान का लक्षण है।

व्याख्या :

जिनसे यह पहचाना जा सके कि अमुक व्यक्ति धर्म ध्यान की स्थिति में है,

उनको लिंग लक्षण कहते हैं। धर्म ध्यान के ये चार लक्षण निम्न नामों से जाने जाते हैं:—

1. आगम रुचि (सूत्र रुचि), 2. उपदेश रुचि, 3. आज्ञा रुचि, 4. निसर्ग रुचि।

(1) आगम रुचि—इसे सूत्र रुचि भी कहा जाता है। सूत्रों का संकलन आगम कहलाता है। आगम से तत्त्वार्थ का ज्ञान हो जाता है, जिससे संसार से विरति होती है, विरति से आत्म-विशुद्धि होती है। आगम रुचि या सूत्र रुचि उसे ही होती है, जिसे मुक्ति प्राप्ति के लिए लोक से विरति हो जाती है, इसीलिये वह आगम के अनुसार आचरण करता है। लोक-विरति संस्थान विचय से होती है और संस्थान विचय ध्यान का अंग है, अतः आगम रुचि अथवा सूत्र रुचि ध्यान का अभिन्न अंग है।

(2) उपदेश रुचि—जिससे सही दिशा का निदर्शन हो उसे उपदेश कहते हैं। सही दिशा का अर्थ है जिस ओर चलने से सही लक्ष्य तक पहुँचा जा सके। ध्याता का लक्ष्य आत्मा के दोषों से मुक्त होकर के शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करना होता है, अतः जिस वीतराग-वाणी के ज्ञान से अथवा जिस धर्म ध्यान से आत्मा को शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होती है, वह उपदेश कहा जाता है। उपदेश दो प्रकार से ग्रहण किया जाता है—(1) स्वानुभव से, (2) दूसरों के अनुभव बोध के श्रवण से।

भोगासक्ति को कर्मबन्धन का कारण जानकर छोड़ने वाला व्यक्ति ही उपदेश ग्रहण की योग्यता रखता है, जिससे वह पुनः कर्मबन्धन से होने वाली प्रवृत्ति से बच जाता है। उपदेश ग्रहण रुचि उसे होती है, जो कर्म विपाक के वीभत्स परिणाम को जानकर उससे मुक्ति चाहता है। कर्म विपाक अपाय विचय धर्म ध्यान का अंग है, अतः उपदेश रुचि धर्म ध्यान को अभिव्यक्ति करने वाला लक्षण कहा गया है, क्योंकि वह जिन-वाणी उपदेश के अनुसार आचरण करता है।

(3) आज्ञा रुचि—वीतराग प्ररूपित धर्म-मार्ग आज्ञा है और आज्ञा के अनुसार तत्त्वार्थ में रुचि और संसार व्यवहार से उदासीनता का आचरण करना आज्ञा रुचि है। रुचि ग्रहण किये गये विषय में होती है, अगृहीत में नहीं; इस न्याय से आज्ञा में रुचि तभी होगी जब आज्ञा का ग्रहण होगा। आज्ञा ग्रहण आज्ञा-विचय से ही सम्भव है। जहाँ आज्ञा रुचि है वहाँ आज्ञा विचय है। आज्ञा विचय धर्म ध्यान का अंग है, अतः आज्ञा रुचि धर्म ध्यान की अभिव्यक्ति का लक्षण कहा गया है।

(4) निसर्ग रुचि—ज्ञानवरणीय और दर्शन मोह के क्षयोपशम से सहज

भाव से स्वभाव में रुचि होना निसर्ग रुचि है। विषय भाव या विभाव से विरति होने से स्वतः स्वभाव में रुचि होना निसर्ग रुचि है, जिसे आर्त-रौद्र ध्यान कटु लगते हों, हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, कुशील, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि में अरुचि हो और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, परिग्रह-परिमाण, शील, शान्ति, संयम रूप स्वधर्म में रुचि हो, वही निसर्ग रुचि है जो यह धर्म ध्यान का लक्षण है। निसर्ग रुचि अपाय विचय का परिणाम है, अतः निसर्ग रुचि को धर्म ध्यान का भी लक्षण माना है।

◆ धर्म ध्यान का उपसंहार करते हैं:—

जिणसाहगुणकित्तण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णो ।

सुअ-सील-संजमरओ धम्मज्झाणी मुणोयव्वो ॥६९॥

धर्म ध्यानी उसे जानना चाहिए जो जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करता है, प्रशंसा करता है, विनय करता है, दान देता है तथा श्रुत, शील और संयम में रत रहता है।

व्याख्या :

तत्त्वार्थ श्रद्धा धर्म ध्यानी की पहचान है। इसके अतिरिक्त धर्म ध्यानी के अन्य गुणों का उल्लेख प्रस्तुत गाथा में किया गया है। अर्हत् जिनेश्वरों तथा साधुजनों के गुणों का गान करना कीर्तन है, भक्तिपूर्वक स्तुति करते हुए गुणों की अत्यन्त श्लाघा करना प्रशंसा है, अगवानीपूर्वक आदर प्रदर्शन विनय है, अन्नादि देना दान है। धर्म ध्यान का ध्याता सामायिक आदि करता हुआ, व्रत संरक्षण करता हुआ श्रुत-शील और संयम की आराधना करता है।

शुक्ल ध्यान

◆ धर्म ध्यान के निरूपण के पश्चात् शुक्ल ध्यान का निरूपण करते हैं:—

अह खंति-महवज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ ।

आलंबणाइं जेहिं सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥७०॥

जिनमत में क्षमा, मृदुता, ऋजुता, निर्लोभता आदि गुणों की प्रधानता है। इन आलम्बनों से मुनि शुक्ल ध्यान में आरूढ़ होता है।

व्याख्या :

क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति—ये जिन-मत में प्रधान आलम्बन कहे गये हैं जिनका सहारा लेकर साधु शुक्ल ध्यान पर आरोहण करते हैं।

क्रोध-मान-माया-लोभ—चार कषायों के क्षय से चार गुण प्रकट होते हैं। क्रोध विजय से क्षमा, मान विजय से मार्दव, माया विजय से आर्जव, लोभ विजय से निर्लोभता—ये ही शुक्ल ध्यान के चार आलंबन हैं—1. क्षमा, 2. मार्दव, 3. आर्जव, 4. मुक्ति। जो आत्मा को स्वभाव में टिकाने में, ठहराने में साहाय्यभूत हो, उसे धर्म ध्यान का आलंबन कहते हैं। शुक्ल ध्यान में श्रेणी आरोहण कषाय की मंदता पर निर्भर करता है। क्षमा आदि गुणों में जितनी दृढ़ता एवं वृद्धि होती जाती है उतनी शुक्ल ध्यान में प्रगति होती जाती है।

साधारण प्राणी क्रोध आदि के आलंबन से जीवनचर्या चलाता है। क्रोध, मान, माया और लोभ—ये कषाय भाव ही उसके जीवन की गति या स्थिति के मुख्य आधार हैं। कषाय भाव की वृद्धि, पर-पदार्थों के साथ एकत्व भाव की वृद्धि भौतिक सामग्री पर निर्भर करती है। ये सब आर्त और रौद्र ध्यान की अभिव्यक्ति हैं। शुक्ल ध्यानी को आध्यात्मिक प्रगति अभीष्ट होती है, अतः वहाँ भौतिक इच्छाओं का आलंबन समाप्त हो जाता है और ध्याता इनके स्थान में कषाय की मंदता व क्षीणता रूप क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति का आलंबन लेता है और इन्हीं के सहारे उसका साधना क्रम आगे बढ़ता है।

जिस प्रकार चारपाई के ऊपर के पाट या काष्ठ पट्टियों के टिके रहने के लिये चारों पाए आलंबन रूप हैं और पायों को टिके रहने में ऊपर की पट्टियाँ आलंबन रूप हैं अर्थात् ये आलंबन परस्पर सहायक हैं, इसी प्रकार शुक्ल ध्यान क्षमा, मार्दव, आर्जव व निर्लोभता के चार पायों के सहारे टिकता व बढ़ता है। अर्थात् कषाय भाव मिटकर अकषाय भाव जितने अंशों में बढ़ता है, शुक्ल ध्यान में उतनी ही दृढ़ता आती है और शुक्ल ध्यान में जितनी दृढ़ता आती जाती है, श्रेणी आरोहण होता जाता है—अकषाय अवस्था उतनी ही बढ़ती जाती है। कषाय निवृत्ति से तत्क्षण आनंद व शक्ति की उपलब्धि होती है जो शुक्ल ध्यान में विशेष विशुद्धि व दृढ़ता का कारण बनती है। जब कषाय सर्वथा क्षीण व क्षय हो जाता है और पूर्ण रूप से सर्वांश में क्षांति (क्षमा), मार्दव, आर्जव व मुक्ति का आविर्भाव हो जाता है तब शुक्ल ध्यान का 'एकत्व-वितर्क-अविचार' अवस्था में प्रवेश हो जाता है। यहाँ पर ये आलंबन शुक्ल ध्यान के अंग बन जाते हैं।

◆ केवली के चित्तवृत्ति निरोध का वर्णन करते हैं:—

तिहुयणविसयं कमसो संखिविउ मणो अणुंमि छउमत्थो ।

झायइ सुनिप्पकंपो झाणं अमणो जिणो होइ ॥७१॥

मन का विषय तीनों लोक हैं। शुक्ल ध्यान में संलग्न छद्मस्थ मन को क्रमशः

संक्षिप्त करता हुआ उसको अणु में स्थापित कर, निष्प्रकम्प होकर ध्यान करता है। केवली अमन (चित्तवृत्ति निरोधपूर्वक अन्तःकरण रहित अवस्थावाला) होता है, अतः उसके मानस ध्यान नहीं होता, उसके केवल काय-चेष्टा निरोधात्मक ध्यान होता है।

व्याख्या :

छद्मस्थ ध्याता तीनों लोकों के विषयों को क्रमशः संकुचित करता हुआ मन को अणु में स्थापित कर निश्चल होकर ध्यान करता है और मन रहित जिन (जीतने वाला) बन जाता है अथवा अन्तःकरण की प्रवृत्ति से रहित होकर निश्चल होता हुआ ध्यान करता है तथा जिन हो जाता है। मनरहित अवस्था तो केवल केवली के होती है।

◆ मन के निरोध की प्रक्रिया प्रस्तुत करते हैं:—

जह सव्वसरीरगयं मंतेण विसं निरुंभए डंके।

तत्तो पुणोऽवणिज्जइ पहाणयरमंतजोगेणं ॥72 ॥

तह तिहुयण-तणुविसयं मणोविसं जोगमंतबलजुत्तो।

परमाणुंमि निरुंभइ अवणेइ तओवि जिण-वेज्जो ॥73 ॥

व्याख्या :

जिस प्रकार सारे शरीर में व्याप्त विष को मंत्र के द्वारा डसने के स्थान पर रोका जाता है, (उसे फैलने नहीं दिया जाता है) और उस डंक स्थान से प्रधानतर मंत्रयोग द्वारा (विष को) दूर कर दिया जाता है। उसी प्रकार से जिनेश्वर रूपी वैद्य तीनों लोकों के शरीर को विषय करने वाले मन रूपी विष को मंत्रयोग के बल से युक्त होकर परमाणु में निरुद्ध करता है और उस परमाणु से भी उस मन को हटा लेता है।

◆ अमन होने की प्रक्रिया प्रस्तुत करते हैं:—

विषवैद्य जिस प्रकार सारे शरीर में फैले हुए विष को मंत्र-प्रयोग से सर्प द्वारा डसे हुए स्थान पर रोककर (एकत्रित कर) प्रधानतर (विशेष) मंत्र-प्रयोग से उसे (विष को) निकाल देता है; उसी प्रकार मंत्र (जिन-वचन) और ध्यान के एक परमाणु में निरुद्ध कर उसका (मन का) भी अपनयन कर देते हैं।

उस्सारियेंधणभरो जह परिहाइ कमसो हुयासुव्व।

थोविंधणावसेसो निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥74 ॥

तह विसइंधणहीणो मणोहुयासो कमेण तणुयंमि ।

विसइंधणो निरुंभइ निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥75 ॥

जिस प्रकार ईंधन के निकालते रहने पर अग्नि क्रमशः क्षीण होती जाती है और थोड़ा ईंधन रह जाने पर वह अग्नि निरुद्ध (ज्वालारहित) हो जाती है; तत्पश्चात् अल्प ईंधन को निकाल देने पर वह बुझ जाती है। उसी प्रकार विषयरूपी ईंधन से परिहीन मन रूपी अग्नि क्रमशः क्षीण हो जाती है। थोड़े-से विषय-ईंधन के रहने पर वह मन अग्नि निरुद्ध हो जाती है तथा पूर्णतः विषय ईंधन समाप्त हो जाने पर वह मन रूपी अग्नि बुझ जाती है, विलीन हो जाती है।

व्याख्या :

ईंधन के अभाव में जैसे अग्नि क्रमशः क्षीण होती जाती है अथवा थोड़ा ईंधन होने पर निर्वात (ज्वालारहित) हो जाती है और फिर नष्ट (अपनीत) हो जाती है। उसी प्रकार विषय (विकार) रूपी ईंधन के अभाव में मन रूपी अग्नि क्रमशः क्षीण होती जाती है अथवा विषय रूपी ईंधन के कम होने पर निरुद्ध हो जाती है, तथा निर्वात हो जाती है, फिर नष्ट हो जाती है, बुझ जाती है। अर्थात् मन का निरोध हो जाता है।

◆ मन-वचन-काय की स्थिरता से शैलेषी अवस्था का वर्णन करते हैं:—

तोयमिव नालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा ।

परिहाइ कमेण जहा तह जोगिमणोजलं जाण ॥76 ॥

एवं चिय वयजोगं निरुंभइ कमेण कायजोगंपि ।

तो सेलेसोव्व थिरो सेलेसी केवली होइ ॥77 ॥

जिस प्रकार नालिका (क्षुद्र घट) का (बहता) जल अथवा तपे हुए लोहे के पात्र में डाला हुआ जल क्रमशः (बहकर या सूखकर) क्षीण होता जाता है उसी प्रकार शुक्ल ध्यान में लीन योगी का मन रूपी जल भी क्रमशः क्षीण होता जाता है। योगी अमन हो जाता है। इसी प्रकार क्रमशः वचन-योग और काय-योग का भी निरोध करता है और केवली मेरु पर्वत की भाँति स्थिर होकर शैलेषी अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या :

जिस प्रकार क्षुद्र घट की नाली द्वारा जल का क्रमशः अभाव होता है या तपे हुए लोहे के पात्र में स्थित जल क्रमशः क्षीण होता जाता है, उसी प्रकार शुक्ल

ध्यान में स्थित योगी के मन रूपी जल को जानना चाहिए अर्थात् शुक्ल ध्यान द्वारा योगी के मन की प्रवृत्ति का अभाव होता है।

इसी प्रकार केवली (योगी) वचन-योग का निरोध करता है तथा इसी क्रम से काय-योग का भी निरोध करता है। तदनन्तर सुमेरुपर्वत के समान स्थिर शैलेषी अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

◆ पृथक्त्व वितर्क सविचार का निरूपण करते हैं:—

उप्याय-द्विड-भंगाइपज्जयाणं जमेगवत्थुंमि ।
नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणुसारेणं ॥ 78 ॥
सवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं ।
होइ पुहुत्तवितक्कं सवियारमरागभावस्स ॥ 79 ॥

जो एक वस्तु में उत्पाद, स्थिति और व्यय आदि पर्यायों (गुण-पर्यायों) का विभिन्न नयों (द्रव्यार्थिक नय से स्थिति और पर्यायार्थिक नय से उत्पाद और व्यय) के आश्रय से पूर्वगत श्रुत के अनुसार अर्थ-व्यञ्जन-योग भेदपूर्वक विचार होता है, वह राग-द्वेषरहित ध्याता के पृथक्त्व वितर्क सविचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान होता है।

व्याख्या :

अनासक्त पूर्वधर मुनि पूर्वमत श्रुत के अनुसार एक वस्तु (पाठान्तर : एक द्रव्य) में विद्यमान उत्पाद-स्थिति-व्यय आदि पर्यायों का अनेक नयों से चिन्तन करते हैं, जिसमें यह अर्थ (पदार्थ) है, यह व्यञ्जन (पद या शब्द) है, यह योग (पदार्थ-मन संयोग) है—इस प्रकार भेदपूर्वक वस्तु का चिन्तन (ध्यान) होता है। वह शुक्ल ध्यान का 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' नामक प्रथम प्रकार है। सविचार का अर्थ है—व्यञ्जन-योग के भेदपूर्वक वस्तु का चिन्तन करना— यथा गौ अर्थ वस्तु या द्रव्य है, गौ व्यञ्जन शब्द है, इयं गौ: यह योग मन का वस्तु के आकार से संयुक्त होना है। गौ: में पदार्थ (अर्थ) भिन्न है, पद (शब्द) भिन्न है और मन का संयोग भिन्न है। इस प्रकार अर्थान्तर, व्यञ्जनान्तर और योगान्तर की अपेक्षा सविचार है। पृथक्त्व का अर्थ भेद और तर्क का अर्थ श्रुत है। जिस ध्यान में श्रुत की सामर्थ्य से द्रव्य या वस्तु की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अवस्थाओं का अर्थ व्यञ्जन योग के भेदपूर्वक चिन्तन होता है वह 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' नामक शुक्ल ध्यान का प्रथम भेद है।

यह शुक्ल ध्यान का प्रथम प्रकार है। इसमें ध्याता, द्रव्य, गुण और पर्याय

का पृथक् रूपेण चिंतन करता है। वह विचारता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वभावतः पृथक्-पृथक् है। उन्हें पृथक् करने पर ही स्वाभाविक व शुद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है। इस ध्यान में ध्याता का लक्ष्य पृथक्त्व पर रहता है और वितर्क एवं विचार इसमें साधन रूप में रहते हैं। इसलिये इसे 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' कहा गया है।

वैसे तो पृथक्त्व भाव का उद्भव भेद-विज्ञान के रूप में चतुर्थ गुणस्थान में ही हो जाता है, परन्तु वहाँ वह श्रद्धा के रूप में होता है। इसे जीवन-व्यवहार में, चारित्र में उतारने का उपक्रम आगे गुणस्थान आरोहण में होता है। शुक्ल ध्यान चारित्र के विकास की चरम सीमा पर होता है।

पृथक्त्व भाव की आधार भूमि है पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान। पदार्थ मुख्यतः दो हैं—जीव और अजीव। जीव और अजीव के पारस्परिक संयोग व संबंध ही विश्व के विविध रूपों में प्रकट होते हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि संयोग व संबंध अपने से भिन्न पदार्थ के साथ ही हो सकता है, अपने साथ नहीं।

जो अपने से भिन्न है, जिनका वियोग अवश्यभावी है वह 'पर' है। 'पर' को 'स्व' समझना ही अविवेक—अज्ञान है। यही प्राणी की मूल भूल है। 'पर' को 'स्व' समझने से पर में आत्मत्व बुद्धि व अपनत्व भाव होता है। इस अपनत्व भाव से प्राणी शरीर, परिवार, घरबार, संसार के साथ अहंत्व को प्राप्त होता है। वह पर-पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति, संयोग-वियोग, वृद्धि-ह्रास में अपना सुख-दुःख मानता है। इस मान्यता के कारण ही उसमें 'पर' के प्रति आकर्षण-विकर्षण होता है और वह पर के साथ तादात्म्य एवं रागात्मक संबंध स्थापित करता है। पर के प्रति इस रागात्मक संबंध से वह बंध को प्राप्त होता है। पर में आत्म-बुद्धि से प्राणी में असंख्य इच्छाओं, वांछाओं, वासनाओं, कामनाओं एवं कांक्षाओं रूपी उद्वेगों का जन्म होता है। प्राणी इनके वशीभूत हो इनकी पूर्ति-तृप्ति के हेतु सतत प्रयत्नशील व आकुल होता है। यही आकुलता उसके दुःख का मूल है।

तात्पर्य यह है कि पर-पदार्थों में आत्मत्व व एकत्व बुद्धि होना ही सर्व बंधनों व दुःखों का मूल कारण है। तन, मन, धन, धाम, धरा, दारा आदि सर्व पुद्गल द्रव्य पर हैं, कारण कि एक दिन इनका वियोग व संबंध-विच्छेद अवश्यभावी है। परन्तु प्राणी भूल से इन्हें अपने मानता है अथवा अपने को इन के रूप मानता है। धन होने पर अपने को धनी, तन के साथ तादात्म्य भाव होने से अपने को दुबला, मोटा, काला, गोरा, रोगी, निरोगी मानता है। देह की बिगाड़, सुधार, मृत्यु आदि—पर्यायों में अपना बिगाड़, सुधार, मृत्यु आदि

मानता है। यही पर के साथ एकत्व भाव रूप अहंत्व, ममत्व, अपनत्व भाव राग-द्वेष, विषय-कषाय आदि सर्व दोषों या विकारों का मूल है।

रागादि विकारों को दूर करने के लिये पर के साथ रहे हुए एकत्व व तादात्म्य भाव को दूर करना आवश्यक है। जो पृथक्त्व भाव से ही संभव है। पृथक्त्व भाव के विकास के विविध रूप हैं, कोई ध्याता पहले शरीर से बाहर के संबंधित पदार्थ धन, धाम, धरा, दारा, पुत्र, मित्र आदि से अपनी आत्मा को पृथक् अनुभव करता है। फिर तन से; पश्चात् तन से सूक्ष्म पदार्थ मन से, तदनंतर उससे भी सूक्ष्म पदार्थ कर्म से आत्मा को पृथक् अनुभव करता है। इस प्रकार पृथक्त्व का विस्तार करता हुआ साधक इस सीमा पर पहुँच जाता है कि पर-पदार्थ मात्र से आत्मा को पृथक् अनुभव करता है। कोई ध्याता प्रथम प्रत्येक पदार्थ को पृथक्-पृथक् अनुभव करता है। फिर पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों की सर्व पर्यायों से अपनी आत्मा को पृथक् करता है आदि-आदि। पृथक्कीकरण की ध्यान की यह प्रक्रिया ही 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' कही जाती है। इस पृथक्त्व वितर्क सविचार ध्यान की चरम सीमा ही परम ध्यान—एकत्व-वितर्क-अविचार का प्रवेश-द्वार है।

◆ एकत्व-वितर्क-अविचार का निरूपण करते हैं:—

जं पुण सुणिप्पकंपं निवायसरणप्पईवमिव चित्तं।

उप्पाय-ठिड़-भंगाइयाणमेगंमि पज्जाए ॥१८०॥

अवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं बितियसुक्कं।

पुव्वगयसुयालंबणमेगत्तवितक्कमवियारं ॥१८१॥

वायुरहित प्रदेश में रखे हुए निष्कम्प लौ वाले दीपक के समान जो चित्त उत्पाद, स्थिति और लय में से किसी एक पर्याय में स्थिर हो, निष्कम्प होता है; जो अविचार होकर पूर्वगत श्रुत का आश्रय लेने वाला होता है, वह अर्थ—व्यञ्जन और योग के विचार से रहित होने के कारण एकत्व-वितर्क-अविचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान है। इस ध्यान में ध्येय के अर्थ-व्यञ्जना-योग का भेद नहीं रहता है।

व्याख्या :

इस ध्यान में ध्येय के विषय में यह अर्थ (पदार्थ) है, यह व्यञ्जन (शब्द) है, यह योग (पदार्थकार) है, ऐसा भेद नहीं रहता है। शुक्ल ध्यान का दूसरा भेद 'एकत्व-वितर्क-अविचार' है। सामान्य या शाब्दिक दृष्टि से देखने में यह भेद

प्रथम भेद 'पृथक्त्व-वितर्क-अविचार' से उलटा प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है प्रत्युत् प्रथम भेद की चरम स्थिति के परिणामस्वरूप प्रगट होने वाला उसका अगला भेद है, जो निर्विकल्पतापूर्वक एकत्व स्थिति का द्योतक है। जब पृथक्त्व भाव की पूर्णता में आत्मा कषाय और मोह से पूर्णतया रहित हो जाता है और उसके लिये पृथक्त्व की उपयोगिता नहीं रहती है तो पृथक्त्व भाव व विकल्प का अभाव होकर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में केवल अकेले निजस्वरूप का ही ध्यान होता है। इस अकेलेपन या एकत्व की स्थिति को ही 'एकत्व-वितर्क-अविचार' शुक्ल ध्यान कहा गया है।

'एकत्व' शब्द का अर्थ है एकता अर्थात् भेद का अभाव। यह सर्वमान्य तथ्य है कि जहाँ एकता है वहाँ भेद नहीं होता है। भेद वहीं होता है जहाँ पृथक्त्व है, भिन्नता है। अतः अभेद को एकत्व का सहचर, समानार्थवाची कहा जा सकता है।

पदार्थों को देखने की मुख्यतः दो दृष्टियाँ हैं—पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक। पर्यायार्थिक दृष्टि द्रव्यों के परिणामनशील पर्यायों पर रहती है। प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें अनंत होती हैं। अतः यह दृष्टि अनंत भेदों व विकल्पों को जन्म देती है और विकल्प विचारों को जन्म देते हैं। तात्पर्य यह है कि विचार की विद्यमानता भेद या पृथक्त्व दृष्टि में ही है। दूसरी दृष्टि द्रव्यार्थिक है। यह द्रव्य के अपरिणामनशील, शाश्वत, ध्रुवरूप को देखती है। इस दृष्टि से द्रव्य की समस्त पर्यायों व रूपों में द्रव्य की एकता है। उनमें भेद पर्यायगत है, द्रव्यगत नहीं। अतः पर्याय दृष्टि से ही द्रव्य में अनंत भेद होते हैं, द्रव्य दृष्टि से द्रव्य में भेद को स्थान ही नहीं है। भेद ही चित्त में चंचलता उत्पन्न करता है। एकत्व में विकल्प उठने का कारण शेष न रहने से चित्त में स्थिरता आती है। दृष्टि जितने अंशों में द्रव्य के अपरिणामनशील शाश्वत स्वरूप पर टिकती जाती है, चित्त में उतने ही अंशों में स्थिरता आती जाती है। इस दृष्टि से विश्व में जो पदार्थ व उनके रूप दिखाई देते हैं वे सिमट कर दो द्रव्यों के रूपों में आ जाते हैं, वे हैं—जीव और अजीव; आत्म और अनात्म। परन्तु जब साधक अनात्म द्रव्य को अनुपयोगी समझ पृथक्त्व भाव द्वारा उससे संबंध-विच्छेद कर लेता है तो केवल आत्म द्रव्य ही शेष रह जाता है। जब आत्मा को भी द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से देखता है तो वह विश्व की सभी आत्माओं को एक ही समान स्वभाव वाली देखता है अर्थात् अपने ही समान देखता है। अतः उन सब के प्रति सहज आत्मीयता का भाव प्रकट होता है जिससे उसके हृदय में किसी भी प्राणी के प्रति राग-द्वेष या अपने-परायेपन का भाव नहीं रहता है। आत्मीयता का यह भाव सब प्राणियों के प्रति

एकत्व व अभेदत्व भाव के रूप में प्रकट होता है, अतः सहज ही निर्विकल्प अवस्था की उपलब्धि हो जाती है।

◆ सूक्ष्म-क्रियाऽनिवृत्ति तथा व्यवच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान का निरूपण करते हैं:—

निव्वाणगमणकाले केवलिणो द्वयनिरुद्धजोगस्स ।

सुहुमकिरियाऽनियट्ठिं तइयं तणुकायकिरियस्स ॥ 82 ॥

तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलोव्व णिप्पकंपस्स ।

वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइज्झाणं परमसुक्कं ॥ 83 ॥

मोक्षगमन के प्रत्यासन्न काल में केवली के मन और वचन, दोनों योगों की प्रवृत्ति निरुद्ध हो जाती है, किन्तु उच्छ्वास निःश्वास रूप काया की सूक्ष्म क्रिया वर्तमान रहती है (शेष रहती है)। यह शुक्ल ध्यान का 'सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति' नामक तृतीय प्रकार है।

शैलेषी अवस्था को प्राप्त केवली सुमेरु पर्वत की भाँति निष्प्रकम्प हो जाता है। उसके यह शुक्ल ध्यान का 'व्यवच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती' चतुर्थ प्रकार है। यह परमशुक्ल ध्यान है।

व्याख्या :

शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद 'सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति' है। शुक्ल ध्यान के दूसरे भेद 'एकत्व-वितर्क-अविचार' में कर्मबंध प्रगाढ़ नहीं होने के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग का अभाव हो जाता है। इनका अभाव हो जाने से योगों की क्रियाओं द्वारा संपादित कर्म निःसत्त्व हो जाते हैं, उनमें अत्यंत निर्बलता, लघुता व सूक्ष्मता आ जाती है। इन क्रियाओं से प्रथम समय में कर्मबंध होता है, द्वितीय समय में उदय व तृतीय समय में निर्जरा होती है। अर्थात् अत्यंत सूक्ष्म है। इस सूक्ष्मता की चरम सीमा तो तब आती है जब मन और वचन योग की क्रियाओं का पूर्ण रूप से निरोध हो जाता है और काया की भी अर्ध क्रिया शेष रहती है। यह अवस्था ही 'सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति' कही गई है।

कुछ आचार्यों का मत है कि सर्वज्ञदेव निर्वाण गमन के समय जब योगों का निरोध करने लगते हैं तो दूसरे सब योगों का अभाव कर देते हैं, केवल सूक्ष्म काय योग रहता है, तब काय वर्गणाओं के निमित्त आत्म-प्रदेशों का अतिसूक्ष्म परिस्पन्द शेष रहता है इसलिये इसका नाम सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति ध्यान है। यह ध्यान मन, वचनयोग का पूर्ण निरोध होने और काययोग का अर्ध निरोध होने पर रहता है।

◆ व्यवच्छिन्न क्रिया-अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान के भेदों में त्रिविध योगों की स्थिति का निरूपण करते हैं:—

पढमं जोगे जोगेसु वा मयं बितियमेयजोगमि ।

तइयं च कायजोगे सुक्कमजोगमि य चउत्थं ॥४४॥

शुक्ल ध्यान के प्रथम प्रकार में एक ही योग या तीनों योग विद्यमान रह सकते हैं। शुक्ल ध्यान के द्वितीय प्रकार में तीन योगों में से कोई एक योग विद्यमान रहता है। शुक्ल ध्यान के तृतीय प्रकार में केवल एक काययोग ही विद्यमान रहता है तथा चतुर्थ प्रकार में कोई योग नहीं रहता, वह अयोगी को ही प्राप्त होता है।

व्याख्या :

प्रथम शुक्ल ध्यान 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' में योगों में से एक या अधिक योगों की प्रवृत्ति रहती है। द्वितीय शुक्ल ध्यान एकत्व-वितर्क-अविचार ध्यान तीनों योगों में से कोई एक योग में ही असंक्रमित रूप से होता है। सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति तृतीय शुक्ल ध्यान में काययोग ही होता है तथा चतुर्थ शुक्ल ध्यान व्युपरतक्रिया अप्रतिपाति या व्यवच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति में योगरहित स्थिति हो जाती है। वह अयोग अवस्था में होता है।

शुक्ल ध्यान का यह अंतिम चरण है। जब शुक्ल ध्यान के तीसरे चरण 'सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति' में रहा हुआ कायिक व्यापार भी बंद हो जाता है अर्थात् योगों की क्रियाओं का पूर्ण अभाव हो जाता है—क्रियाओं से सर्वथा-सर्वदा संबंध विच्छिन्न हो जाता है तो यह अवस्था व्यवच्छिन्न क्रिया कही जाती है। यह ध्यान प्रतिपत्तन को प्राप्त नहीं होता है इसलिये अप्रतिपाति कहा गया है। योग सर्वथा निरुद्ध हो जाने से निष्कंप, अडोल अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह निष्कंपता या अडोलता पर्वताधिराज सुमेरु के समान होने से इसे शैलेषी अवस्था भी कहा गया है। इसके पश्चात् जीव देह से भिन्न होकर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

सारांश यह है कि ध्याता शुक्ल ध्यान के प्रथम चरण 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' से आत्मा-अनात्मा में भेद करता है, अतः गाढ़ बंधनों का अभाव हो जाता है। द्वितीय चरण 'एकत्व-वितर्क-अविचार' से आत्मा-परमात्मा में एकत्व अनुभव होता है जिससे परमात्मा की प्राप्ति होती है। तीसरे चरण 'सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति' से शेष रहे निःसत्त्व योगों का भी निरोध प्रारम्भ हो जाता है। जब योगों का पूर्ण निरोध हो जाता है तो चौथे चरण 'व्युपरत क्रिया अप्रतिपाति' अवस्था की उपलब्धि होती है। इस अवस्था में योगों का निरोध हो जाने से सर्व

क्रियाओं का निरोध हो जाता है और क्रिया या कर्म से अतीत अवस्था 'मुक्ति' की प्राप्ति होती है। और जीव जन्म, मरण, रोग, शोक, पराधीनता, जड़ता, नश्वरता, क्षोभ, अभाव, असमर्थता, चिन्ता आदि सर्व विकारों से व दुःखों से मुक्त हो जाता है। उसे स्वाधीनता, चिन्मयता, अमरता, समर्थता, सम्पन्नता, सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता, आनंद की प्राप्ति हो जाती है। जीव विभाव से मुक्त होकर निरंजन, निर्विकार, सच्चिदानंद स्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

◆ छद्मस्थ और केवली के ध्यान की विशेषता बताते हैं:—

जह छउमत्थस्स मणो ज्ञाणं भण्णइ सुनिच्चलो संतो ।

तह केवलिणो काओ सुनिच्चलो भन्नए ज्ञाणं ॥८५॥

जिस प्रकार छद्मस्थ के मन का निश्चल होना ध्यान कहा जाता है उसी प्रकार केवली के काया का निश्चल होना ध्यान कहा जाता है।

◆ केवली के चित्त का अभाव होने पर भी ध्यान होने के कारण प्रस्तुत करते हैं—

पुव्वप्यओगओ चिय कम्मविणिज्जरणहेउतो यावि ।

सद्धत्थबहुत्ताओ तह जिणचंदागमाओ य ॥८६॥

चित्ताभावेवि सया सुहुमोवरयकिरियाइ भण्णंति ।

जीवोवओगसब्भावओ भवत्थस्स ज्ञाणाइं ॥८७॥

संसारस्थ सयोगी या अयोगी केवली के चित्त का अभाव होने पर भी जीव का उपयोग रहता ही है, अतः उनके केवली का शुक्ल ध्यान सूक्ष्म और उपरतक्रिय अन्तिम दो प्रकार का कहलाता है। उनमें ध्यान का अस्तित्व मानने के चार कारण हैं—

1. जीव के पूर्व प्रयोग के कारण
2. कर्मों की निर्जरा के कारण
3. (ध्यान) शब्द के अनेक अर्थों के कारण
4. जिन-प्रणीत आगम प्रमाण होने के कारण।

व्याख्या :

भवस्थ जीव के चित्तवृत्ति का अभाव होने पर भी सूक्ष्म तथा उपरत क्रिया (सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति व व्युपरत क्रिया अप्रतिपाति) ध्यान है। कारण कि जीव के पूर्व के प्रयोग हेतु से, जीव के उपयोग का सद्भाव होने से (भाव मन होने से)

तथा कर्मों की निर्जरा का हेतु होने से भी (मानव) भव में स्थित जीव के ध्यान कहा है तथा (यहाँ ध्यान) शब्द बहुत अर्थवाला होने से जिनेश्वर भगवान् ने आगम में इसे ध्यान कहा है।

◆ शुक्ल ध्यान का उपसंहार करते हैं:—

सुक्कज्झाणसुभावियचित्तो चित्तेइ झाणविरमेऽवि ।

णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपन्नो ॥१८८ ॥

आसवदारावाए तह संसारासुहाणुभावं च ।

भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं च ॥१८९ ॥

शुक्ल ध्यान से समाहित (सुभावित) चित्त वाला, चारित्र से युक्त ध्याता ध्यान के समापन के उपरान्त भी सदा निम्न चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है:—

1. आस्रवों के अपाय का चिन्तन
2. संसार के अशुभ-अनुभाव का चिन्तन
3. भवसन्तति की अनन्तता का चिन्तन
4. वस्तुओं के विपरिणाम का चिन्तन ।

व्याख्या :

शुक्ल ध्यान से सुभावित चित्त ध्यान से उपरत होने पर भी निश्चित रूप से चार अनुप्रेक्षाओं (चारित्र चिन्तन) से सम्पन्न होता है अर्थात् शुक्ल ध्यानी चार अनुप्रेक्षा भावना-युक्त होता है यथा:— 1. अपायानुप्रेक्षा, 2. अशुभानुप्रेक्षा, 3. अनंतवर्तितानुप्रेक्षा और 4. विपरिणामानुप्रेक्षा ।

अपायानुप्रेक्षा

बंध के कारणों को दोषजनक, आपत्तिजनक सोचना अपायानुप्रेक्षा है। बंध के कारण आस्रव हैं। पर-पदार्थों में अपनत्व भाव व सुख-दुख की मान्यता से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग—इन आस्रवों की उत्पत्ति होती है, जिनके परिणामस्वरूप प्राणी दुःख पाता व भव-भ्रमण करता है। अतः दुख निवारण व भव संतति का अंत करने हेतु आस्रव से अपगमन अर्थात् त्याग करना आवश्यक है। आस्रव त्याग तब ही संभव है जब पदार्थों के प्रति अपनत्व भाव छूटकर पृथक्त्व भाव प्रकट हो। अतः अपायानुप्रेक्षा से शुक्ल ध्यान का प्रथम चरण 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' दृढ़ होता है जो ध्यान की शुद्धि-वृद्धि में सहायक है।

अशुभानुप्रेक्षा

अशुभत्व का विचार अशुभानुप्रेक्षा है। विकार मात्र अशुभ हैं, क्योंकि विकार प्राणी के लिये अहितकर ही होते हैं, हितकर नहीं। नरक, तिर्यच, मनुष्य, देवगति व इनकी पर्यायें एवं तन, मन, धन आदि सर्व संयोगजनित अवस्थाएँ विकार की प्रतीक एवं अहितकर हैं। प्राणी का वास्तविक हित इन से अतीत अवस्था में है। अतः इन सर्व पर्यायों को अशुभ व दुःख रूप समझकर पृथक् होने में ही आत्म-हित है। ऐसी भावना से 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' सबल बनता है और ध्यान में शुद्धता आती है।

अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा

अनन्तत्व का विचार करना, अनन्त में विचरण करना अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा की दृष्टि से अनन्तत्व के दो प्रकार किये जा सकते हैं—पराश्रित और स्वाश्रित। पराश्रित अनन्त में साधक पर से संबंधित द्रव्य, क्षेत्र, काल, आदि पर विचार करता है। वह द्रव्य की दृष्टि से जीवों की अनन्तानंत राशि को देखता है तो उसे लगता है कि विश्व में विद्यमान अगणित धनवान्, बलवान्, विद्वान्, गुणवान्, सत्तावान् व्यक्तियों में आज उसका कोई स्थान ही नहीं है, तथापि वह स्वयं भी पहले अनन्त बार इनको व देवगति के उच्च सुखों को भी भोग चुका है परन्तु फिर भी दुःख से मुक्ति नहीं मिली। जब वह क्षेत्र की अनन्तता पर दृष्टि डालता है तो उसे लगता है कि आकाश में स्थित अनन्त ग्रह-नक्षत्रों के समक्ष जिस भूमि व भवन का वह स्वामी है उसका कोई महत्त्व ही नहीं है। साथ ही वह सोचता है कि सारे संसार में एक तिल रखे जितना भी क्षेत्र ऐसा नहीं छोड़ा जहाँ उसने जन्म-मरण का दुःख न पाया हो। काल की दृष्टि से देखने पर भूत-भविष्यत् के अनन्त काल में वर्तमान जीवनकाल का कहीं अता-पता ही नहीं चलता तथा इतने अनन्त काल में दुःख ही पाया, सुख कभी नहीं पाया। पर्याय दृष्टि से देखता है तो उसे लगता है कि उसने अनन्तानंत भव धारण कर लिये हैं और अब भी भव-भ्रमण का चक्र चल रहा है जिसका अंत कहीं नहीं आ रहा है। इस प्रकार पर से संबंधित अनन्तता पर विचार करने से स्पष्ट बोध होता है कि उसको प्राप्त भौतिक वस्तुओं व शक्तियों का अनन्त में प्रथम तो कोई स्थान, मान या मूल्य ही नहीं है। यदि है भी तो वे कार्यकारी व कल्याणकारी नहीं हैं, दुःख का ही हेतु हैं। पराश्रित अनन्त के साथ अपनत्व करके अनन्त काल से अनन्त दुःख उठाया है। अतः पराश्रित अनन्त से संबंध-विच्छेद में ही आत्महित निहित है। अनन्तानुवर्ती अनुप्रेक्षा का यह रूप 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' ध्यान को दृढ़ करता है।

स्वाश्रित अनंत में स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि का चिंतन करता है। इस दृष्टि से आत्मा अकेला है, क्षेत्र से देह या लोक प्रमाण है, काल से शाश्वत-अमर है, भाव से निरंजन, निराकार है, गुण से अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत शक्तिसम्पन्न है। इस प्रकार स्वाश्रित अनंतवर्तितानुप्रेक्षा ध्यान की 'एकत्व-वितर्क-अविचार' अवस्था के प्रकटीकरण में उपक्रम का कार्य करती है।

विपरिणामानुप्रेक्षा

पदार्थ की पर्याय परिणमन से होने वाले परिणाम पर विचार विपरिणामानुप्रेक्षा है। पदार्थ की कोई भी पर्याय पल-भर भी एक-सी नहीं रहती है। संसार के दृश्यमान असंख्य मोहक पदार्थ क्षण-क्षण बदलने वाले हैं। उनकी सुंदरता जो आज है वह कल नहीं रहेगी। उनके परिवर्तनों को देखकर आश्चर्य या संमोह नहीं होना विपरिणामानुप्रेक्षा है।

परिणमन का प्रवाह अनवरत रूप से चालू रहता है। अतः उनसे होने वाले सुख-दुःख व प्रभाव में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। सुख की अनुभूति कुछ समय के लिये भी एक-सी नहीं रहती फिर भले ही वह सुख देवयोगत ही क्यों न हो। व्यावहारिक जीवन में भी देखा जाता है कि मधुर से मधुर गाना गाया जा रहा हो, हम को उससे पहले क्षण जो सुख मिलता है वह दूसरे क्षण नहीं मिलता। सुख की प्रतीति प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है और अंत में यह स्थिति आ जाती है कि हम उससे ऊब जाते हैं और गाना बंद करवा देना पसंद करते हैं, भले ही वही गायक हो और वही गाना गाया जा रहा हो जो प्रारम्भ में चल रहा था। यही बात भोजन, शयन, वसन आदि समस्त पौद्गलिक सुखों पर भी चरितार्थ होती है। तात्पर्य यह है कि पर-पदार्थों के योग से दुःख तो मिलता ही है परन्तु जो सुखाभास रूप सुख मिलता है वह भी क्षण-क्षण विपरिणमन को प्राप्त होता है। जो सुख क्षण-क्षण क्षीण हो, विपरिणमन को प्राप्त हो, जिसका अंतिम परिणाम अरुचिकर, सुखशून्य हो, नीरसता हो, उसके प्राप्त करने के लिये प्रयत्न न करने में, उसमें अपनत्व भाव न रखने में ही आत्महित है। अपनत्व भाव का अभाव पृथक्त्व भाव का आविर्भाव करता है जो ध्यान या आत्म-शुद्धि में सहायक बनता है।

जिस प्रकार शुक्ल ध्यान के लक्षण व आलंबन शुक्ल ध्यान की अंतिम स्थिति तक रहते हैं इस प्रकार अनुप्रेक्षाएँ नहीं रहतीं, कारण कि अनुप्रेक्षाओं-भावनाओं की आवश्यकता वहाँ होती है जहाँ अधूरापन हो, समस्या का समाधान ढूँढना हो, विकार या अशुद्धि को मिटाना हो। यह स्थिति शुक्ल ध्यान के प्रथम चरण 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' तक ही रहती है। शुक्ल ध्यान के अगले चरणों

में पूर्ण शुद्ध, निर्विकार अवस्था आ जाती है अतः अनुप्रेक्षाओं की आवश्यकता नहीं रहती है।

◆ शुक्ल ध्यान और लेश्या का सम्बन्ध बताते हैं:—

सुक्काए लेसाए दो ततियं परमसुक्कलेस्साए।
थिरयाजियसेलेसिं लेसाईयं परमसुक्कं ॥१० ॥

शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकारों में शुक्ल लेश्या और तृतीय प्रकार में परम शुक्ल लेश्या होती है। शुक्ल ध्यान का चतुर्थ प्रकार लेश्यातीत होता है। वह ध्याता स्थिरता में मानो शैलेष पर्वत को भी जीतने वाला अर्थात् सुमेरु पर्वत से भी निष्प्रकम्पतर होने के कारण उसका ध्यान परमशुक्ल होता है।

◆ शुक्ल ध्यान के लिंगों का निर्देश करते हैं:—

अवहाऽसंमोह-विवेग-विउसग्गा तस्स होंति लिंगाङ्गं।
लिंगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्जाणोवगयचित्तो ॥११ ॥
चालिज्जइ बीभेइ य धीरो न परीसहोवसग्गेहिं।
सुहुमेसु न संमुज्जइ भावेसु न देवमायासु ॥१२ ॥
देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे।
देहोवहिवोसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥१३ ॥

शुक्ल ध्यानोपगत चित्त वाले (शुक्ल ध्यान में जिसका चित्त निरुद्ध हो गया है ऐसे) धीर मुनि की पहचान के ये चार लक्षण हैं— 1. अव्यथा 2. असम्मोह 3. विवेक और 4. व्युत्सर्ग।

1. अव्यथा—परीषह और उपसर्गों से न डरना, न चलायमान होना।
2. असम्मोह—अत्यन्त गहन सूक्ष्म भावों तथा देव माया से सम्मोहित नहीं होना।
3. विवेक—निज आत्मा को शरीर तथा सभी संयोगों से भिन्न मानना।
4. व्युत्सर्ग—अनासक्त होकर देह और उपाधि का सर्वथा त्याग करना।

व्याख्या :

अव्यथा—शुक्ल ध्यान का प्रथम लक्षण अव्यथा है, व्यथा का अभाव है। अर्थात् शुक्ल ध्यानी को व्यथा नहीं होती। प्राणी की समस्त व्यथाओं, वेदनाओं, दुःखों का कारण देह, वस्तु, व्यक्ति आदि पर-पदार्थों में अपनत्व भाव व तादात्म्य है। जिस प्रकार आग लोहे के साथ अपनत्व व तादात्म्य को प्राप्त करती है तो

वह भी लोहे के साथ ही पीटी जाती है; इसी प्रकार प्राणी भी देह आदि के साथ ममत्व बुद्धि रखने से उन पर होने वाली प्रक्रिया से व्यथित होता है। पृथक्त्व भाव से देह आदि पर-पदार्थों से ममत्व बुद्धि हट जाती है, तादात्म्य मिट जाता है, जिससे उन पर होने वाली क्रियाएँ-घटनाएँ प्राणी को व्यथित नहीं करती हैं।

अव्यथा के स्थान पर सूत्रों में कहीं-कहीं अवस्थित शब्द आता है, जिसका अर्थ है स्थिर रहना, चलायमान न होना। यह अव्यथा का ही दूसरा रूप है, क्योंकि चलायमान होना ही क्षोभ है और क्षोभ ही व्यथा है। अतः अव्यथा और अवस्थित समान अर्थ के द्योतक हैं। चलायमान वही व्यक्ति होता है जो निमित्तों से प्रभावित होता है। निमित्त से प्रभावित वह व्यक्ति नहीं होता है जिसने निमित्तों से पृथक्त्व स्थापित कर लिया हो। अतः पृथक्त्व भाव से आत्मा में अवस्थित लक्षण की अभिव्यक्ति होती है।

असम्मोह—मोहित न होना ही असम्मोह है। यह शुक्ल ध्यान का दूसरा लक्षण है जिसका अभिप्राय है शुक्ल ध्यानी सम्मोहित नहीं होता है। मूर्च्छित होना, ममत्व करना, दूसरों के प्रभाव से प्रभावित होना, दूसरों के निर्देशों में आबद्ध हो जाना, ऋद्धि-सिद्धियों के चमत्कारों से चमत्कृत होना सम्मोह के ही रूप हैं।

मनोविज्ञान का यह नियम है कि वही व्यक्ति सम्मोहित होता है जो वस्तु, व्यक्ति आदि पर-पदार्थों को महत्त्व देता है, उन्हें मूल्य प्रदान करता है और उन्हें शक्तिसम्पन्न मान उनसे अनुग्रह की आकांक्षा रखता है, उन्हें आत्मसात् करता है, परन्तु शुक्ल ध्यानी इन सब पदार्थों से पृथक्त्व का बोध व अनुभव कर लेता है। उसके लिये वस्तु, व्यक्ति आदि समस्त पर-पदार्थों का कोई अर्थ व मूल्य नहीं रहता है तथा साधना के फलस्वरूप प्राप्त अलौकिक लब्धियाँ, ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ या चमत्कारों को भी निस्सार समझता है। इसलिये वह इन सब से सम्मोहित व प्रभावित नहीं होता है।

विवेक—मूढ़ता या जड़ता न रहकर सजगता रहना ही विवेक है। जड़ता जड़-पदार्थों में अपनत्व भाव से आती है। तन, धन आदि जड़ पदार्थों से अपनत्व भाव हटकर पृथक्त्व भाव का आविर्भाव ही विवेक है। कहा भी है—
देहविविक्तं प्रेक्षते आत्मानं तथा च सर्वसंयोगान् विवेकः अर्थात् देह और सर्व संयोगों से आत्मा को नीर-क्षीर के समान पृथक् समझना ही विवेक है। पृथक्त्व भाव से अनात्म जड़-पदार्थों में अपनत्व नहीं करता है, इससे जड़ता, मूढ़ता या प्रमाद मिट जाते हैं और सतत सजगता या विवेक बना रहता है।

व्युत्सर्ग—निःसङ्गतयादेहोपधीनां त्यागो व्युत्सर्गः—अर्थात् देह और उपधि के संग का निःसंकोच त्याग व्युत्सर्ग है। देह, धन, धाम आदि सर्व पदार्थों में अपनत्व भाव ही उनके संग या संबंध का कारण है। यह संग या संबंध ही बंध का कारण है। पृथक्त्व भाव से स्वतः संबंध-विच्छेद होता है। संबंध-विच्छेद होना ही निःसंगता है और निःसंगता ही त्याग या व्युत्सर्ग है। वस्तु को त्याग दें परन्तु उससे संबंध न त्यागें तो वह त्याग नहीं है। वस्तु रहे परन्तु उससे संबंध त्याग दें तो वस्तु रहने पर भी उससे निःसंगता होने से वह त्याग ही है। अतः देह के रहते हुए भी देह से निःसंग—पृथक्—रहना त्याग है। पृथक्त्व भाव से स्वतः उपधि के प्रति निःसंगता आती है अर्थात् शुक्ल ध्यान में त्याग या व्युत्सर्गता स्वतःस्फुटित होती है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि ये चारों लक्षण शुक्ल ध्यान के प्रथम चरण 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' में प्रकट हो जाते हैं, अतः ये शुक्ल ध्यान के अगले तीनों चरणों में अपने-आप ही वैसे ही विद्यमान रहते हैं जिस प्रकार ऊपर की सीढ़ी में नीचे की सीढ़ी का योग रहता है अथवा उच्च कक्षा में नीचे की कक्षा की योग्यता विद्यमान रहती है।

◆ धर्म ध्यान के फल का निर्देश करते हैं:—

होति सुहासव-संवर विणिज्जराऽमर सुहाइं विउलाइं ।

झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥१४॥

उत्तम धर्म ध्यान के ये फल हैं—शुभ-आस्रव, पुण्य, संवर, निर्जरा और देव सुख। ये सभी दीर्घस्थिति, विशुद्धि और उपपात से विस्तीर्ण तथा शुभानुबन्धी फलों की प्राप्ति कराने वाले होते हैं।

व्याख्या :

उत्तम धर्म ध्यान से शुभास्रव (पुण्य कर्मों का आगमन), संवर (पाप कर्मों का निरोध), निर्जरा (संचित कर्मों का क्षय) तथा अमर (देव) सुख मिलते हैं। एवं शुभानुबंधी (पुण्यानुबंधी) विपुल फल मिलते हैं। शुभास्रव, संवर और निर्जरा उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होते हैं। उससे परभव में देव गति की प्राप्ति होती है। वहाँ आयु की दीर्घता और सुखोपभोग की बहुलता होती है।

◆ शुक्ल ध्यान का चरम फल मोक्ष प्रस्तुत करते हैं:—

ते य विसेसेण सुभासवादोऽणुत्तरामरसुहं च ।

दोणहं सुक्काण फलं परिनिब्बाणं परिल्लाणं ॥१५॥

पूर्वोक्त गाथा द्वारा कथित शुभासव, संवर, निर्जरा की विशेष प्राप्ति तथा अनुत्तर विमानवासी देवों का सुख मिलना—यह शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकारों का फल है और अन्तिम दो प्रकार के शुक्ल ध्यान का फल परिनिर्वाण प्राप्ति है।

व्याख्या :

धर्म ध्यान के फल शुभासव, संवर, निर्जरा और अमरसुख इनमें विशेष रूप से उत्तरोत्तर वृद्धि होना, प्रारम्भ के दो शुक्ल ध्यान (पृथक्त्व-वितर्क-सविचार और एकत्व-वितर्क-अविचार) का भी फल है। अन्तिम दो शुक्ल ध्यान सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति और व्युपरतक्रिया अप्रतिपाति का फल मोक्ष की प्राप्ति है।

◆ ध्यान को मोक्ष का हेतु बताते हैं:—

आसवदारा संसारहेयवो जं ण धम्म-सुक्केसु।
 संसारकारणाइ तओ धुवं धम्मसुक्काइं ॥१६॥
 संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स प्हो तवो प्होतासिं।
 झाणं च पहाणंगं तवस्स तो मोक्खहेऊयं ॥१७॥

पहले गाथा १६ में धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान का फल शुभासव, संवर, और निर्जरा कहा है। इस गाथा में कहा है धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान में वे आसव, जो संसार के कारण हैं, वे नहीं होते तथा धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान मोक्ष के हेतु हैं। इससे यह फलित है कि शुभ (पुण्य) आसव और शुभ (पुण्य) कर्मों का बन्ध संसार-भ्रमण का कारण नहीं है अपितु मोक्ष का कारण है। शुभ आसव—शुभ (पुण्य) बन्ध कषाय की क्षीणता (घटने) से होता है। कषाय ही संसार का कारण है; कषाय का घटना मुक्ति की ओर अग्रसर करना है। शुभ (पुण्य) अघाति होते हैं, अतः इनसे जीव के किसी गुण की हानि कभी नहीं होती है।

व्याख्या :

जो (मिथ्यात्व आदि) आसवद्वारा संसार के कारण हैं वे चूँकि धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में सम्भव नहीं हैं, इसलिए यह ध्रुव नियम है कि ये ध्यान नियमतः संसार के कारण नहीं हैं (किन्तु मुक्ति के कारण हैं), संवर और निर्जरा मोक्ष के मार्ग हैं, उनका पथ तप है और उस तप का प्रधान अंग ध्यान है। अतः ध्यान मोक्ष का हेतु है।

◆ ध्यान कर्ममल का अपनयन करता है। स्पष्ट करते हैं:—

अंबर-लोह-महीणं कमसो जह मल-कलंक-पंकाणं।
 सोज्झावणयण-सोसे साहेति जलाऽणलाऽऽइच्चा ॥१८॥

तह सोज्झाइसमत्था जीवंबर-लोह-मेइणिगयाणं ।
 झाण-जलाणल-सूरा कम्म-मल-कलंक-पंकाणं ॥ 99 ॥

जिस प्रकार पानी वस्त्र पर लगे मैल को धोकर उसे स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप मैल को धोकर उसे शुद्ध कर देता है, जिस प्रकार अग्नि लोहे पर लगे कलंक (जंग आदि) को दूर कर देती है उसी प्रकार ध्यान जीव से संबद्ध कर्मरूप कलंक को पृथक् कर देने वाला है, तथा जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी के कीचड़ को सुखा देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप कीचड़ को सुखा देने वाला है ।

व्याख्या :

जिस प्रकार वस्त्र पर लगे मैल का शोधन जल करता है, लोह पर लगे जंग का अग्नि अपनयन करती है, धरती पर रहे कीचड़ का सूर्य शोषण करता है, उसी प्रकार जीव रूपी वस्त्र पर लगे कर्ममल का शोधन ध्यान रूपी जल करता है । जीव रूप लोह पर लगे कलंक (दोष) का अपनयन ध्यान रूपी आग करती है और जीव रूपी धरती पर विद्यमान कीचड़ का शोषण ध्यान रूपी सूर्य करता है ।

◆ ध्यान से त्रिविध योगों के शोधनपूर्वक कर्मशोधन को प्रस्तुत करते हैं:—

तापो सोसो भेओ जोगाणं झाणओ जहा निययं ।
 तह ताव-सोस-भेया कम्मस्स वि झाइणो नियमा ॥ 100 ॥

जिस प्रकार ध्यान से (मन, वचन, काया के) योगों का ताप (सुखाना) तथा शोषण (कृश करना) और भेदन (विदारण) नियम से होता है उसी प्रकार ध्यान से ध्याता के कर्मों का भी ताप-शोषण और भेदन अवश्य होता है ।

व्याख्या :

त्रिविध योग से कर्मबन्ध होता है, अतः ध्यान द्वारा योगों का ताप शोषण और भेदन होने से ध्यान द्वारा कर्मों का भी ताप-शोषण-भेदन होता है ।

◆ ध्यान से कर्माशय शमन को सोदाहरण प्रस्तुत करते हैं:—

जह रोगासयसमणं विसोसण विरेयणोसहविहीहिं ।
 तह कम्मासयसमणं झाणाणसणाइजोगेहिं ॥ 101 ॥

जिस प्रकार रोगाशय (रोग के निदान) की चिकित्सा विशोषण और विरेचन औषध के विधान से होती है उसी प्रकार कर्माशय का शमन ध्यान तथा अनशनादि तप योगों से होता है ।

व्याख्या :

जिस प्रकार विशेषण औषध विधि में पुराने रोग को सुखा देने वाली लंघन अथवा विरेचन औषध विधि में पुराने रोग के कारणभूत रोगाणुओं या मल को बाहर निकाल देने वाली औषधियों के प्रयोग से उस रोग का उपचार कर दिया जाता है उसी प्रकार ध्यान और उपवास आदि के विधान से कर्मरूप रोग को शान्त कर दिया जाता है। ध्यान अतियोग द्वारा चञ्चल चित्तवृत्तियों को स्थिर करके भी कर्मों के संस्कार मिटा दिये जाते हैं तथा तपपूर्वक निर्जरा के द्वारा भी कर्माशय के प्रभाव को समाप्त कर दिया जाता है।

◆ ध्यान से सञ्चित कर्मक्षय होने का निरूपण करते हैं:—

जह चिरसंचियर्मिधणमनलो पवणसहिओ दुयं दहइ ।

तह कम्मधणममियं खणेण झाणाणलो डहइ ॥ 102 ॥

जिस प्रकार वायु से प्रेरित अग्नि दीर्घकाल से संचित ईंधन को शीघ्र ही जला देती है उसी प्रकार ध्यानरूप अग्नि दीर्घकाल के संचित कर्मरूप ईंधन को क्षण-भर में भस्म कर देती है।

व्याख्या :

जिस वायु के तीव्र वेग से चलने पर अग्नि आदि भयंकर रूप ले लेती है और शीघ्र ही ईंधन को जला देती है, उसी प्रकार ध्यान में संवेग (वैराग्य की तीव्रता) से घाति कर्म रूपी ईंधन शीघ्र जलकर नष्ट हो जाता है। कारण कि वैराग्य के वेग की तीव्रता राग को भस्म कर वीतराग की उपलब्धि करा देती है।

◆ ध्यान में कर्मों को विलीन करने की सामर्थ्य है:—

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति ।

झाण-पवणावहूया तह कम्म-घणा विलिज्जंति ॥ 103 ॥

जिस प्रकार पवन से आहत बादलों का समूह क्षण-भर में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से अवधूत अर्थात् विघटित होकर कर्मरूपी मेघ भी विलीन हो जाते हैं—क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या :

जिस प्रकार पवन के तीव्र वेग से मेघ क्षणभर में विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार संवेग (वैराग्य) के तीव्र प्रवाह से राग, रागजनित कर्म-संस्कार क्षण-भर (अन्तर्मुहूर्त) में नष्ट हो जाते हैं।

◆ ध्यान से मानसिक दुःख का अभाव प्रस्तुत करते हैं:—

न कसायसमुत्थेहि य बाहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं ।

ईसा-विसाय-सोगाइएहिं झाणोवगयचित्तो ॥ 104 ॥

जिसका चित्त ध्यान में संलग्न है वह व्यक्ति क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होने वाले ईर्ष्या, विषाद और शोक आदि मानसिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता ।

व्याख्या :

क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय से ही ईर्ष्या, विषाद, शोक, विनय, अभाव, तनाव, हीनभाव, द्वन्द्व आदि मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । शुभ ध्यान में कषाय के क्षीण होने से ध्यानी साधक इन व्याधियों से पीड़ित नहीं होता है ।

◆ ध्यान से शारीरिक दुःख का अभाव प्रस्तुत करते हैं:—

सीयाऽऽयवाइएहि य सारीरेहिं सुबहुप्पगारेहिं ।

झाणसुनिच्चलचित्तो न ब (बा) हिज्जइ निज्जरापेही ॥ 105 ॥

जिसका चित्त ध्यान के द्वारा अतिशय स्थिर हो गया है, वह मुनि कर्मनिर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ शीत व उष्ण आदि बहुत प्रकार के शारीरिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता ।

व्याख्या :

ध्यान में चित्त शान्त व स्थिर होने से कर्मों की निर्जरा होती है एवं मानसिक रोगों की पीड़ा नहीं होने के साथ ही हृदयाघात, अल्सर आदि शारीरिक रोगों के दुःख भी नहीं होते हैं ।

◆ ग्रन्थकार जिनभद्र क्षमाश्रमण ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए ग्रन्थ के महत्त्व तथा ग्रन्थ प्रमाण का निर्देश करते हैं:—

इय सब्वगुणाधाणं दिट्ठादिट्ठासुहसाहणं झाणं ।

सुपसत्थं सद्धेयं नेयं ज्ञेयं च निच्चंपि ॥ 106 ॥

पंचतुरेण गाहासएण झाणस्स यं (जं) समक्खायं ।

जिणभद्वखमासमणेहिं कम्मविसोहीकरणं जइणो ॥ 107 ॥

इस प्रकार ध्यान सभी गुणों का आधार है तथा दृष्ट और अदृष्ट सुखों का साधन है, अतिशय प्रशस्त है, श्रद्धेय है, ध्येय है, ज्ञेय है और उसका चिन्तन करना चाहिए ।

जिनभद्र क्षमाश्रमण ने यति की कर्मविशुद्धि करने वाले ध्यान के अध्ययन को एक सौ पाँच गाथाओं द्वारा कहा है।

व्याख्या :

सारांश यह है कि जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा निरूपित ध्यान सर्वगुणों का आधार, कर्मनिर्जरा का हेतु, मानसिक व शारीरिक रोगों के दुःखों से बचाने वाला, अलौकिक सुख देने वाला होने से प्रशंसनीय, ज्ञेय, श्रद्धेय और साधकों के लिए अनुशीलन करने योग्य है।

॥ इति ॥

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि

1. ध्यानशतक तथा ध्यानस्तव, सम्पादक बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, वीर सेवा मन्दिर 21, दरियागंज, दिल्ली - 6, 1976
2. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास - भाग-4, डॉ. मोहनलाल मेहता एवं हीरालाल कापडिया, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-5, 1968
3. तत्त्वार्थ सूत्र, उमास्वाति, (सम्पादक) सुसलाल संघवी, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस-5, 1952
4. गवर्नमेण्ट कलक्शन ऑफ मेन्युस्क्रिप्ट्स, भण्डारकर ऑरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1940
5. आवश्यकनिर्युक्ति भाग 1-2, भद्रबाहु स्वामी, श्री भैरूलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, चन्दनबाला अपार्टमेण्ट्स, आर.आर. ठक्कर मार्ग, बालकेश्वर, मुम्बई, वीर सम्वत् 2508
6. विशेषावश्यक भाष्य भाग 1-2, जिनभद्र क्षमाश्रमण, दिव्यदर्शन ट्रस्ट 68, गुलालवाड़ी, मुम्बई, वीर सम्वत् 2509
7. अभिधान राजेन्द्र कोश भाग 4, श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरीश्वर, श्री अभिधान राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम, वि.सं. 1981
8. श्रीमदावश्यकनिर्युक्ति दीपिका, भाग 1-2, माणेकय शेखरसूरीश्वर एवं हीरालाल रणछोड़भाई, विजयदानसूरि जैन ग्रन्थमाला, 29वाँ रतन महोदरा मुद्रणालय, भावनगर, वीर सम्वत् 2466
9. पातंजलयोगदर्शनम्, सम्पादक डॉ. श्रीनारायण मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1971
10. योगसूत्रम्, सम्पादक पण्डित दुण्दिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृति सीरीज, ऑफिस, गोपाल मन्दिर लेन, बनारस, 1930
11. श्री योगसूत्र, चतुरसिंह, (सम्पादक) पण्डित गिरिधरलाल शास्त्री, शिवशक्ति विद्यापीठ, राजमहल, उदयपुर, विक्रम सम्वत् 2026

12. योगशतक, हरिभद्रसूरि, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, 1959
13. योगी कथामृत, परमहंस योगानन्द, जैको पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1981
14. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, संशोधित साहित्य माला
15. भारतीय दर्शन, विक्रमादित्य सिंह, प्रकाशन केन्द्र, अमीनाबाद, लखनऊ, 1970
16. कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियों में दार्शनिक दृष्टि, सुषमा गांग, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1982
17. समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पादक पन्नालाल, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थ-माला, वाराणसी, 1969
18. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पादक ए.एन. उपाध्ये, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्र माला, अणंद, 1964
19. जैन योग, मुनि नथमल, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, 1978
20. ध्यान योग, ओशो, द रेबल पब्लिशिंग हाउस, पूना, 1994
21. गणधरवाद, जिनभद्र क्षमाश्रमण, सम्पादक दलसुख मालवणिया, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, 1982
22. आगम युग का जैन दर्शन, दलसुख मालवणिया, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1966
23. भावना-योग एक विश्लेषण, आनन्द ऋषि, श्री जैन रत्न पुस्तकालय, पाथर्डी, अहमदनगर, 1975
24. ध्यान का विज्ञान, चन्द्रप्रभ, जितयशा फाउण्डेशन, कलकत्ता, 2002
25. साधना के अनुभव, चतुर्भुज सहाय, रामाश्रम सत्संग, मथुरा, 2001
26. मनुस्मृति, लोकहित संस्थान, बरेली, 1976
27. पुण्यास्रवकथाकोश, रामचन्द्र मुमुक्षु, (सम्पादक) ए.एन. उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, 1964
28. योगसार प्राभृत, अमितगति, सम्पादक ए.एन. उपाध्ये, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1944
29. समाधितन्त्र और इष्टोपदेश, पूज्यपाद, (सम्पादक) जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 1965
30. पातंजल योगसूत्र (बुद्ध चाणी के परिप्रेक्ष्य में), स. ना. टण्डन, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 2003

31. जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय, हरिभद्र, (सम्पादक) छगनलाल शास्त्री, हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, 1982
32. जैन योग सिद्धान्त और साधना, आत्माराम, (सम्पादक) अमरमुनि, आत्म ज्ञानपीठ, मानसा मण्डी, पंजाब, 1983
33. समीक्षण ध्यान : विधि विधान, शान्ति मुनि, श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर, 1987
34. योगशास्त्र, हेमचन्द्र, (सम्पादक) नेमिचन्द्र, श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली, 1975
35. सन्मतितर्कमहार्णवावतारिका, (सम्पादक) विजयदर्शनसूरि, जैन मार्ग प्रभावक सभा, मद्रास, सम्वत् 2013
36. अंगपविट्टसुत्ताणि, श्रुतस्कन्ध, I, II, III, (सम्पा.) डोशी एवं चण्डालिया, अ.भा.सा. जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, 1981
37. अनंगपविट्टसुत्ताणि, डोशी एवं चण्डालिया, सैलाना, 1984
38. अभिधम्मत्थसङ्गहो, विपश्यना विशोधन विकास, इगतपुरी, 1998
39. विसुद्धिमग्ग-महाटीका, भाग I, II, विपश्यना विशोधन विकास, इगतपुरी, 1998
40. अङ्कत्तरनिकाय, भाग-3, स्कन्ध I, II, विपश्यना विशोधन विकास, इगतपुरी, 1995

कन्हैयालाल लोढ़ा

कन्हैयालाल लोढ़ा का जन्म ग्राम धनोप (जिला—भीलवाड़ा, राजस्थान) में मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी, सम्वत् 1979 को हुआ। आप हिन्दी में एम.ए. हैं तथा साहित्य, गणित, भूगोल, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, अध्यात्म आदि विषयों में आपकी विशेष रुचि है।

लघुवय से ही सत्य-धर्म के प्रति आपकी अटूट आस्था एवं दृढ़ निष्ठा रही है। आपने जैन-जैनेतर दर्शनों का तटस्थतापूर्वक गहन मन्थन कर उससे प्राप्त नवनीत को 300 से अधिक लेखों के रूप में प्रस्तुत किया है। आपका चिन्तन पूर्वाग्रह से दूर एवं गुणग्राहक दृष्टि के कारण यथार्थता से परिपूर्ण होता है।

विज्ञान और मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में 'जैन धर्म-दर्शन' पुस्तक पर आपको 'स्वर्गीय प्रदीपकुमार रामपुरिया स्मृति पुरस्कार', 'दुःख-मुक्ति : सुख प्राप्ति' पुस्तक पर 'आचार्यश्री हस्ती-स्मृति-सम्मान पुरस्कार', 'सकारात्मक अहिंसा : शास्त्रीय और चारित्रिक आधार' पुस्तक पर 'गौतम गणधर पुरस्कार' तथा 'साहित्य-साधना' पर 'मुणोत फाउण्डेशन पुरस्कार' से सम्मानित किया जा चुका है।

प्रस्तुत ध्यान शतक कृति के अतिरिक्त आपकी निम्नलिखित प्रमुख कृतियाँ प्रकाशित हैं :

1. दुःख-मुक्ति : सुख प्राप्ति, 2. जैन धर्म : जीवन धर्म, 3. कर्म सिद्धान्त, 4. सेवा करें : सुखी रहें, 5. सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी, 6. जैन तत्त्व प्रश्नोत्तरी, 7. दिवाकर रश्मियाँ, 8. दिवाकर देशना, 9. दिवाकर वाणी, 10. दिवाकर पर्वचिन्तन, 11. श्री जवाहराचार्य सूक्तियाँ, 12. वक्तृत्व कला, 13. वीतराग योग, 14. जैनागमों में वनस्पति विज्ञान, 15. जीव-अजीव तत्त्व, 16. पुण्य-पाप तत्त्व, 17. आस्रव-संवर तत्त्व, 18. निर्जरा तत्त्व, 19. सकारात्मक अहिंसा, 20. सकारात्मक अहिंसा (शास्त्रीय और चारित्रिक आधार), 21. दुःख रहित सुख (मुद्रित हैं), 22. जैन धर्म में ध्यान, 23. कायोत्सर्ग, 24. बन्ध तत्त्व, 25. मोक्ष तत्त्व तथा 26. पतञ्जलि योग दर्शन कृतियाँ मुद्रणाधीन हैं।

अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् के अध्यक्ष होने के साथ आप श्वेताम्बर एवं दिगम्बर, दोनों जैन सम्प्रदायों के आगम-मर्मज्ञ जैन विद्वान् हैं। आप एक उत्कृष्ट ध्यान साधक, चिन्तक, गवेषक हैं। प्रस्तुत पुस्तक आपके जीवन, चिन्तन एवं सत्य-दृष्टि का एक प्रतिबिम्ब है।

डॉ. सुषमा सिंघवी

डॉ. सुषमा सिंघवी का जन्म राजस्थान राज्य के जोधपुर जिले में 12 दिसम्बर, 1952 में हुआ। आप 1966 में 'राष्ट्रपति गाइड' से सम्मानित हुईं। जोधपुर विश्वविद्यालय से 1969 में बी.ए. तथा 1971 में एम.ए. (संस्कृत दर्शन) प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान से उत्तीर्ण कर आप स्वर्णपदक विजेता रहीं। आपको 1977 में 'कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियों में दार्शनिक दृष्टि' शोध ग्रंथ पर पीएच.डी. उपाधि प्रदान की गई। आपकी 3 पुस्तकें, 15 शोध लेख प्रकाशित हैं एवं 50 से अधिक पत्र विभिन्न राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय गोष्ठियों में प्रस्तुत किये हैं। आपके निर्देशन में योगदर्शन एवं कालिदास साहित्य पर पीएच.डी. हेतु शोध कार्य हुए हैं।

जयनारायण विश्वविद्यालय, जोधपुर के संस्कृत विभाग में आप 1973 से सहायक आचार्य, 1984 से सह-आचार्य पद पर रहीं। वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय के निदेशक पद पर 1989 से उदयपुर, 2002 से जयपुर क्षेत्रीय केंद्र पर कार्यरत हैं।

आपने अंतरराष्ट्रीय सेमीनार हेतु हॉंगकॉंग (1992), मेलबॉर्न (ऑस्ट्रेलिया) 1994, कोलम्बस-डेटन-ओहायो स्टेट (अमेरिका) 2002, पारामारीबो-सूरीनाम (साउथ अमेरिका) तथा सिनसिनाटी (नार्थ अमेरिका) 2003, ऑट्टवा (केनेडा) 2003 स्थित विश्वविद्यालयों में जैन विद्या पर अनेक व्याख्यान दिये। 'महिला सशक्तिकरण' (CIDA, Canada के सहयोग से) 2002-2003 तथा DEC, IGNOU के सहयोग से Udaipur : A Land of Opportunities 2001-2003 प्रोजेक्ट किए। आप 1989 में 'कुन्दकुन्दभारती पुरस्कार' नई दिल्ली; 1991 में 'जिनशासन गौरव' मांडवला; 2000 में 'विदुषी महिला : शिक्षा' एवं 'मातृशक्ति' उदयपुर से सम्मानित हुई हैं।

प्रस्तुत पुस्तक आपके संस्कृत-प्राकृत भाषा, जैन विद्या एवं योगदर्शन के अध्ययन-अध्यापन का एक प्रतिबिम्ब है।